3469

हिन्दी

शीराज़ा

3469

(गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर विशेषांक)

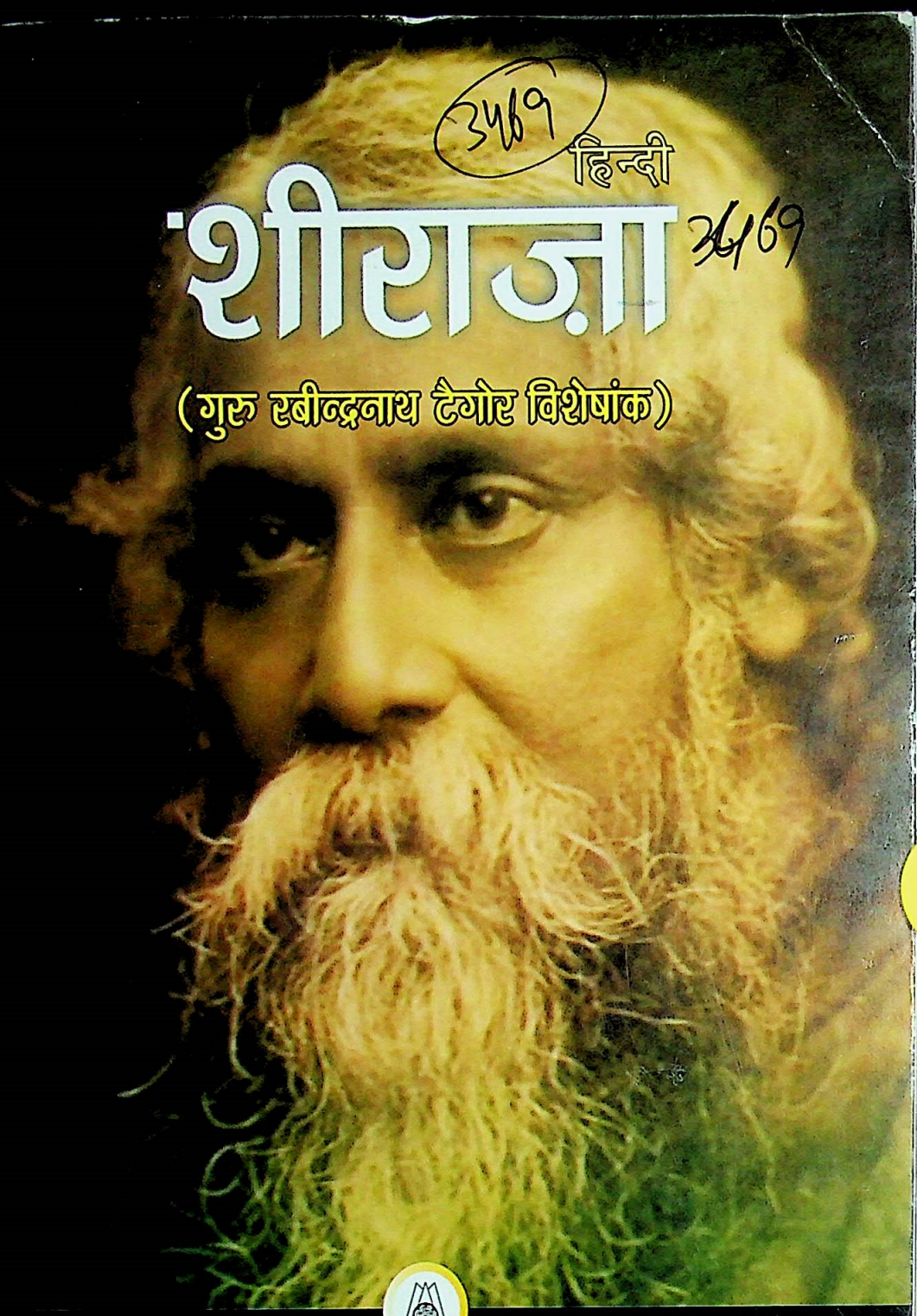

जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़

जम्मू

6-7/2012

3469

SHEERAZA Regd. No. : 28871/76 June - July 2012
(Hindi)

वर्ष : 48 अंक : 2 पूर्णांक : 209

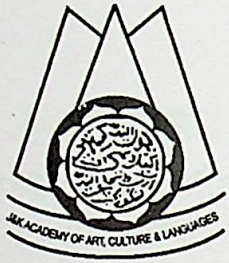

★ पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकैडमी का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

प्रकाशक : सचिव, जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकैडमी
जम्मू-180 001

पत्र-व्यवहार : संपादक, शीराज़ा हिन्दी, जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकैडमी
जम्मू-180 001; दूरभाष : (0191)-2577643, 2579576

मुद्रक : क्लासिक प्रिंटर्ज़, नेशनल हाइवे, बाड़ी ब्राह्मणां, जम्मू
दूरभाषा : (01923)-220243, 94191-49293

शुल्क दर : एक प्रति 10 रुपये; वार्षिक 50 रुपये

संपादकीय

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे एवं उन विख्यात रचनाकारों में से थे जिन्होंने अपनी रचनात्मक क्षमता से साहित्यिक क्षेत्र में एक नयी क्रांति लाई।

गुरुदेव का परिवार नयी विचारधारा के साथ-साथ सभ्यता और संस्कृति का केंद्र था। घर में साहित्यिक वातावरण होने के कारण बचपन से ही इनकी रुचि साहित्य में थी। मात्र आठ बरस की आयु में इन्होंने अपनी पहली कविता लिखी। इनकी बहन बंगाल की सुप्रसिद्ध साहित्यकारा मानी जाती है।

टैगोर ने भारतवर्ष में उथल-पुथल का दौर देखा था। उस समय देश गुलाम था और स्वतंत्रता के लिए पूरे देश में आंदोलन प्रारंभ हो चुके थे। यही कारण था कि इनका काव्य नये रुख की ओर मुड़ा। टैगोर ने अपने काव्य के माध्यम से उन इच्छाओं और जज़्बों को स्वर दिया जो प्रत्येक भारतवासी के हृदय में मचल रहे थे। गीतांजलि का अंग्रेज़ी अनुवाद इन्होंने स्वयं किया और इसे नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया जिससे पूरे भारत का सिर गर्व से तन गया।

विलायत जाकर टैगोर ने नृत्य, गायन और साहित्य की हर विधा का गूढ़ अध्ययन किया। सन् 1880-81 में इनके गीत संग्रह 'सांध्य गीत' एवं 'प्रभाव संगीत' प्रकाशित हुए। इनकी प्रत्येक कृति में विविध रंगों का मिलान होता है एवं पाठक को प्रभावित करने वाले भावों का चित्रण हुआ है, जिसे आज भी पढ़ पाठक उनकी गहराई में डूबने-उतरने लगता है।

इन्हें पुश्तैनी संपत्ति की देख-रेख हेतु गांव जाने का अवसर मिला, जिससे वहां का प्राकृतिक सौंदर्य, स्वच्छ वातावरण, पद्मा नदी का किनारा, नित्त नये अनुभव, ग्रामीण जीवन की ऊहापोह, कठिनाइयां, सामाजिक उतार-चढ़ाव ने इनके मानस को झकझोर कर रख दिया जिससे इनमें एक नयी उर्वरता संचरित हुई। टैगोर अपने समूचे साहित्य को ईश्वर के समक्ष नैवेद्य के रूप में अर्पित करते हैं।

टैगोर के नाटकों में मात्र ट्रेजडी ही नहीं अपितु मानव की गहरी जिजीविषा भी समाई है। इनके भीतर का कथाकार अपने पात्रों को अपने आस-पास के वातावरण से चुनता है। इनकी कहानियों में अक्सर सूर्य, वर्षा, नदियां, नदी किनारे के सरकंडे, बरसात का मेघाछन्न एवं निर्मल आकाश, सघन छांव वाले गांव, लहलहाती फसलों से हरे-भरे खेत दिखाई देते हैं। इनकी कहानियों में अधिकतर समाज में नारी का स्थान, नारी जीवन की विशेषतायें, नारी चेतना आदि गंभीर चिंतन के विषय लिए गये हैं। इन विषयों पर लिखते समय इन्होंने गहरी अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया है।

इनकी एक सौ पचासवी जयंती के उपलक्ष्य में जम्मू-कश्मीर कला संस्कृति एवं भाषा अकैडमी द्वारा सैमीनार एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम भी करवाए गए। शीराज़ा हिन्दी का यह अंक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को समर्पित है।

नीरू शर्मा

इस अंक में

❑ आलेख

- रबीन्द्रनाथ ठाकुर : वैचारिकता के कतिपय सरोकार/*डॉ० ओम गोस्वामी* / 1
- रबीन्द्रनाथ टैगोर और कश्मीर/मूल (उर्दू) : गुलाम नबी ख़्याल/*अनु०-यशपाल शर्मा ''निर्मल''* / 12
- टैगोर और कश्मीरी साहित्य/*प्रो० चमनलाल सप्रू* / 19
- टैगोर : भारतीयता और समाज चित्रण/*प्रो० राजकुमार* / 27
- लोकतांत्रिक सोच और टैगोर का काव्य/*मूल (उर्दू) : डॉ० प्रेमी रूमानी* / 34
  अनु० डॉ. रतन बसोत्रा
- गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर का उपन्यास गोरा-एक सर्वेक्षण/ *डॉ० सत्य पाल श्रीवत्स* / 39
- रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित उपन्यास ''कौन किसका'' : एक विश्लेषण/*मूल (पं.) इछुपाल* / 48
  अनु० रितु कुमार शर्मा
- रबीन्द्रनाथ टैगोर का बाल-साहित्य/*मूल (डो.) डॉ० ज्ञान सिंह* / 54
  अनु. सुनील दत्त शर्मा
- रबीन्द्रनाथ के नाटकों में संवेदनशीलता/*डॉ० वसुधा* / 63
- रबीन्द्रनाथ टैगोर बहुमुखी प्रतिभा के धनी/*नरेश कुमार 'उदास'* / 68
- रबीन्द्रनाथ टैगोर का संगीत को योगदान/*ब्रह्मस्वरूप सच्चर* / 71
- गीतांजलि में दार्शनिकता/*मंगलदास डोगरा* / 74
- रबीन्द्रनाथ टैगोर : व्यक्तित्व एवं संक्षिप्त साहित्यिक विवरण/*मूल (पहाड़ी) निसार राही, अनु. अज़रा चौधरी* / 102
- रबीन्द्रनाथ टैगोर एवं रंगमंच / *मूल:- डॉ. ललित गुप्ता, अनु० रीटा खडयाल* / 108
- रबीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों में नारी/*नीरू शर्मा* / 116

❑ नाटक

- गुणातीत/*डॉ० वरुण सुथरा* / 80

❑ संस्मरण

- गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की कर्म भूमि शांतिनिकेतन की यात्रा/*डॉ० सत्यपाल श्रीवत्स* / 93

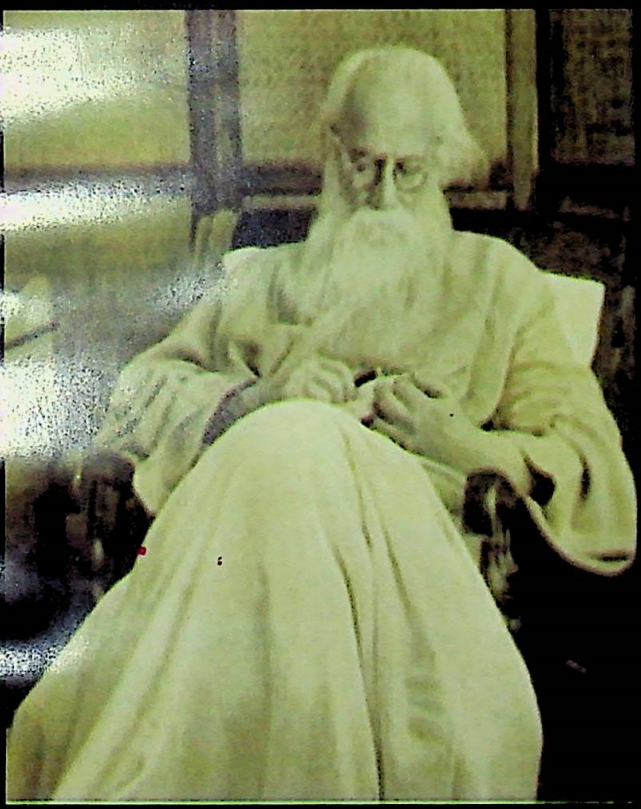

टैगोर जी आराम की मुद्रा में

रबीन्द्रनाथ ठाकुर : वैचारिकता के कतिपय सरोकार

❑ डॉ० ओम गोस्वामी

साहित्योद्यान का बरगद

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आधुनिक भारतीय साहित्य के अमर मनीषी हैं। बाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास की युगीन परंपरा में खड़े वे ऐसे प्रकाश स्तंभ हैं जो भारतीय साहित्य के आधुनिक होने की उद्घोषणा करते दिखाई पड़ते हैं। उनके द्वारा विरचित साहित्य ; लालित्य की अद्भुत अनुभूति से सराबोर है। कविता की झरझराती सरिता द्वारा वे मानवीय संवेगों को कोमल स्पर्श देते हैं। उनकी गीति रचनाओं में मानव हृदय की बहुरंगी छटा उद्भासित होती है। औपन्यासिक रचनाओं में वे धीर-गंभीर समुद्र हैं जो बाहर से निश्चल, किंतु भीतर से जीवन के अन्तर्वर्ती उद्वेगों से छलछलाता रहता है। मानवीय गरिमा उनके नाटकों में प्रतिष्ठित होकर धन्य हुयी जाती है। अपने यात्रा-वृत्तांतों में वे एक अनुभवी एवं सारग्रही द्रष्टा के रूप में भ्रमणशील दिखाई पड़ते है। निबंधों की विषय-विविधता उनके वाग-वैदग्ध्य का प्रमाण है। कहानी कहने की उनकी कला का अपना अंदाज़ है। उन्हें कथा-ऋषि कहना सर्वथा उपयुक्त लगता है। लेखनी को वे चित्रकार की कूचिका की भाँति प्रयोग में लाने में सिद्धहस्त ही हैं। उनकी तार्किक दृष्टि दर्शन-शास्त्र की विस्तृत सीमाओं का स्पर्श करती है।

गुणात्मक एवं संख्यात्मक दृष्टि से भी उनका साहित्यिक योगदान सतुल्य है। रबींद्र साहित्य का रसास्वादन करने के लिए हमें लेखक के रचनात्मक स्तर तक उठना होगा-अन्यथा हमें वे एक रहस्यवादी सृजक नज़र आने लगेंगे तथा उनकी सार्थक अभिव्यक्ति बोझिल दिखाई देने लगेगी। वे न केवल कविता क्षेत्र में बल्कि लेखन की अन्य विधाओं में भी भावों एवं विचारों को इस कारीगरी से सगुंफित करते हैं कि उनका लेखन सपाट बयानी से बचते हुए ओज और प्रसाद गुणों का उद्बोधन कराता है। उनकी प्राय: प्रत्येक पंक्ति एक सुविचारित भावावेग दिखाई पड़ती है। अपनी प्रत्येक भावानुप्राणित रचना में वे पाठक के अन्तस में अप्रतिम शब्द-चित्रों का निर्माण करते हैं। यह ऐसा विलक्षण अनुभव है जिसे पाठकीय मानस बार-बार पढ़ना और दुहराना चाहता है। संभवतया इसी कलात्मक प्रविधि का चमत्कार है कि उनकी किसी भी कृति को दो-बार, चार-बार और हर-बार पढ़ने पर ताज़गी की अनुभूति होती है। यों लगता है, इसे हम पहली बार पढ़ रहे हैं। दूसरे पाठ पर यह भावानुभूति घर कर लेती है कि इस प्रक्रिया ने रसास्वादन के स्तर पर हमें अत्यंत समृद्ध किया है।

आज जब कि राष्ट्र रबीन्द्र जयंती के 150 वर्ष पूरे होने पर सोल्लास समारोहों का आयोजन कर रहा है। कविवर रबीन्द्र की मील-पत्थर की हैसियत को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इसलिए हमारा मानना है कि भारतीय भाषाओं के विस्तृत साहित्योद्यान में महकने वाले रंग-बिरंगे फूलदार पेड़-पौधों के केंद्र में एक वृहद पीपल का पेड़ धरती में अपनी जटाएं गड़ाए हुए अर्ध-उन्मीलित नेत्रों से किसी ऋषि की भाँति समाधि की दशा में स्थित है। साहित्योन्मेष की विभिन्न योग-मुद्राओं को दर्शाता ऋषि-वृक्ष निस्संदेह रबीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। वे भारतीय साहित्याकाश के केंद्रस्थ स्तंभ हैं। बालपन से आरंभ करके वे अंतिम श्वास तक साहित्य जी रहे थे। आसन्न मृत्यु का पूर्वाभास पाकर उन्होंने मृत्यु पर एक गीत लिखा और परिजनों से कहा कि मेरी मृत्यु पर यह गीत गाया जाए। मृत्यु का स्वागत करते इस गीत की आरंभिक पंक्तियों का भावार्थ है–

''सामने शांति का पारावार,

खोल दो कश्ती, कर्ण धार।''

विभिन्न कलाओं में आकंठ डूबकर उन्होंने लेखन, गायन, वादन, चित्रांकन (रबीन्द्र साहित्य, रबीन्द्र संगीत, रबीन्द्र चित्रकला) द्वारा अपनी विशेष पहचान बनाई। सृजनात्मकता उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य थी।

स्वतन्त्रता की उड़ान के समर्थक रबीन्द्र–

रबीन्द्रनाथ ठाकुर बंधनहीन किंतु मर्यादित मानव समाज की परिकल्पना करते हैं। जीवन की विभिन्न परिधियों में रहकर मानव अपने सुख के परिकल्पित संसार में जीता है। जीवन यापन की दो मुख्य विचारधाराओं अथवा पद्धतियों को आधार बनाकर कवि ने इन में प्राकृत टकराव को अपनी कविता ''दूई पाखी'' (दो पंछी) में बेहद पटुता से उकेरा है। दो पंछियों के प्रछन्न प्रतीक द्वारा उन्होंने जीव की स्वरचित मर्यादाओं का सहज चित्रण किया है। स्वाधीनता का गुणानुवाद करने हेतु उन्होंने दो पक्षियों की वार्तालाप-कथा का सृजन यों किया–

एक बार अकस्मात् दो पक्षियों की भेंट हो जाती है। एक वनपाखी सोने के पिंजरे में बन्द पक्षी के निकट चला आया। उसने सोने की सलाखों के पीछे बंद पक्षी को दावत दी कि आओ वन में चलें। पिंजरे के पंछी ने कहा आओ तुम भी इस सोने के आवास में आकर रह लो। पिंजरे वाले पंछी को जीवन के समस्त ऐश्वर्य पिंजरे की परिधि में समोए हुए दिखते हैं। उसने इन्हें अपनी स्वतंत्रता को गिरवी रखने की कीमत पर पाया है। उसके प्रस्ताव को सुनकर वनपाखी तुरंत कहता है – नहीं मैं अपने आपको बंधने नहीं दूंगा। प्रत्युत्तर में पिंजरे का पंछी पूछता है– मैं बाहर कैसे निकलूं ?

पंछी जन्मतः स्वतंत्र होता है, किंतु जिसे सोने के पिंजरे में कैद रखा गया है, वह अपनी क्षमताओं को भुलाकर सुविधाओं का गुलाम बन चुका है। प्रतीक रूप में एक पंछी आज़ादी की नेमत का ज्ञाता बताया गया है जबकि दूसरा दासता की ज़ंजीरों में जकड़ी मानसिकता को

प्रतिफलित करता है। 1892 ई. में रचित इस कविता में कवि ने आज़ादी और गुलामी की तुलना करते हुए इंगित किया है कि विदेशी दासता चाहे हमें लाख सुख और शांति के भुलावे दे तो भी वह सोने के पिंजरे से बढ़ कर नहीं है।

पिंजरे से बाहर बैठा स्वतन्त्र पंछी वन अर्थात् स्वतंत्र आकाश के तमाम गीत गाँता है। इसलिए वह पिंजरे में कैद पंछी को वन गमन के लिए, वन के गीत गाने को प्रेरित करता है। तात्पर्य यही है कि हमारे देशवासी स्वतंत्रता का महत्त्व पहचानें और आज़ादी की टेर लगाएं। गुलामी में आत्मलीन पंछी उसे कहता है कि तुम भी सुखों हेतु दासता का संगीत सीख लो। यही वह संगीत है जो हमारी स्वतत्रंता के हर्ता को सुहाता है। वही हमें गुलामी में सुख मनाने का पाठ पढ़ाता है। पिंजरे का पंछी स्वतंत्रता के गीत गाने का जोखिम नही उठाना चाहता। वह अपनी उड़ान को सुख भरे एकांत तक सीमित करने का पक्षधर है। इसीलिए वनपाखी कहता है कि मैं तो पिंजरे के सीमित आकाश में उड़ नहीं पाऊंगा। उसका कथन है – अपने-आप को कर दो बादलों के हवाले। उत्तर में पिंजरे का पाखी कहता है कि बादलों में बैठने का ठौर तक नहीं होता।

दोनों के परिसंवाद का एक-दूसरे की भाषा से मेल नहीं है। दोनों चुपचाप एक-दूसरे को टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं, किंतु एक-दूसरे को समझ नहीं पाते। न ही समझा पाते हैं। एक-दूसरे के सान्निध्य में आने की चाहत में दोनों अपने पंख फड़फड़ाते हैं। किंतु, वनपाखी अपनी स्वतंत्रता को खोने के मूल्य पर पाखी का सहचर्य स्वीकार नहीं करता। उसका कथन है – कौन जाने कब पिंजरे की खिड़की बंद कर दी जाए।

जिस दौर में यह कविता रची गयी थी, उस समय भारतीय स्वतंत्रता का आंदोलन उतना तीव्र नहीं था। भारतीय जन-मानस को जागृत करने की आवश्यकता थी। स्वतंत्रता का इच्छुक एक वर्ग अभी असमंजस की स्थिति में था। इस वस्तु स्थिति का रूपांकन इस कविता में शानदार ढंग से किया गया है। असमंजस की मन: स्थिति का चित्रण कविता की अंतिम दो पंक्तियों में यों दिखाई पड़ता है जब पाखी कहता है– ''हाय मुझ में उड़ने की शक्ति नहीं है।''

देश एवं काल से जुड़े हुए कवि रबीन्द्र की समसामयिक प्रतिबद्धता का सबसे बड़ा सरोकार देश की स्वतंत्रता थी। वे न केवल महात्मा गांधी और उनकी विचारधारा से जुड़े हुए थे बल्कि ''जलियांवाला नरसंहार के विरोध स्वरूप विदेशी हाकिमों द्वारा दी गई ''सर'' की उपाधि को उन्होंने सच्चे राष्ट्रप्रेमी की तरह लौटा दिया।

महात्मा गाँधी की जन्म-जयंती वर्ष 1937 ई. में 2 अक्तूबर को कवि ने शांति निकेतन मंदिर में मनायी। इस उपलक्ष्य में विशेष तौर पर लिखित निबंध ''महात्मा गाँधी'' में उन्होंने अपना राष्ट्र-चिंतन विशद रूप से सामने रखा। भारत जो कभी अपनी सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बंधकर गर्वोन्नत शीर्ष खड़ा दिखाई देता था, कालांतर में आपस के वैर-विरोध के रहते, एकता के अभाव में निहायत कमज़ोर पड़ गया। इस विषय पर चर्चा करते हुए कवि रबींद्रनाथ

ठाकुर कहते हैं – ''..... उसके बाद एक दिन फिर हमारे ऊपर बाहर से आघात हुआ। लेकिन यह आघात विदेशियों द्वारा हुआ, जिनकी संस्कृति बिल्कुल भिन्न थी। जब वे आये तब हमने देखा कि हम एकसाथ रहने पर भी एक नहीं हुए थे। *** हमारी आपस की फूट से विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। जितना बड़ा हमारा देश था उस परिमाण में हमारी एकता नहीं थी। दुर्भाग्य झेलकर हमने सबक सीखे; लेकिन सदियों बाद। *** हम अपनी समस्त शक्ति-संपदा विदेशियों को देने लगे, हमारी विद्या एवं बुद्धि क्षीण हुई, हमारा चित्त दुर्बल और खोखला हो गया।''

सदियों की दासता के कारण देशवासी उस दीन दशा को प्राप्त हो गये थे जहाँ उनकी राष्ट्र चिन्ता मात्र अपने गाँव की परिधि तक सीमित थी। वहाँ वे धार्मिक कृत्य संपन्न करवाने को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने लगे थे। अदूर दृष्टि की ऐसी अनेक घटनाएं हमारे राष्ट्रीय चरित्र का अंग बन गई जो जीवन की सीधी ललकारों और दैनंदिन सरोकारों के बजाये विरक्ति और पलायन को प्रश्रय देती थीं। इस विषय पर कविवर का गहन चिंतन आँखे खोलने वाला है – ''परमार्थिक वैभव के लोभ में हम अपनी पार्थिव सम्पदा खर्च करते हैं और वह जा पहुँचती है महंतों और पंडों के गर्व से फूले हुए पेट में। इस से भारत की क्षति ही हो सकती है उसका लाभ नहीं हो सकता। भारतवर्ष के विशाल जन-समाज में एक और भी श्रेणी के लोग हैं। ये लोग जप-तप और ध्यान करने के लिये मनुष्य-मात्र का परित्याग करते हैं, और संसार के दैन्य तथा दु:ख हवाले करके चल देते हैं। संसार के प्रति उदासीन मोक्षकामी हमारे देश में असंख्य हैं, और उनके लिए जो लोग अन्न जुटाते हैं, उन्हें वे मोहग्रस्त तथा संसारासक्त कहते हैं।''

ऐसे कारकों को टैगोर स्वतंत्रता की चेतना के प्रति घातक मानते हैं। सब को कल्याण का मंच प्रदान करने के लिए स्वतंत्रता वर्ग भेद पर प्रहार करती है। पश्चिमी देशों ने मानवीय गरिमा को स्थापित करने हेतु जो निरंतर संघर्ष किए हैं उन्हें वे सराहना की दृष्टि से देखते हैं – ''पाश्चात्य जगत के इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि एकताबद्ध होकर स्वतंत्रता को कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आज सभी भारतवासी चाहते हैं कि अपने देश को नियंत्रित करने का अधिकार उन्हें मिले।''

स्वतंत्रता की अग्निशलाका हाथ में लेकर भारत को दासता के अंधियारे से बाहर निकालने के लिये अग्रसर महात्मा गाँधी के पथ को वे अनुकरणीय मानते हैं –

''पालिटिशियन लोगों की चतुराई के लिए हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन भक्ति नही कर सकते। भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गाँधी की, जिनकी साधना सत्य की साधना है। मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्य की सार्वभौम धर्मनीति को अस्वीकार नहीं किया। *** महात्मा गाँधी ने दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिये बगैर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। *** महात्मा गाँधी यदि केवल एक वीर योद्धा होते तो हम उन्हें इस तरह स्मरण न करते जैसे आज कर रहे हैं।''

सूक्ष्म भाव-संसार का चितेरा

रबीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्धि एक कवि के रूप में अधिक है। साहित्य की अन्य विधाओं में उनका पर्याप्त योगदान है। उनका रचनात्मक लेखन साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। ''गीतांजलि'' पर ''नोबेल'' पुरस्कार मिलने से न केवल उनकी ख्याति को चार चांद लग गए बल्कि अन्य विधाओं में उनके योगदान को कमतर आंका गया क्योंकि उन्हें प्रमुख रूप से कवि मान लिया गया। उनके निबंधों का पांडित्य उनकी विद्वता को विश्वस्तरीय सिद्ध करता है। विश्व, भारत तथा क्षेत्र के लिए उनका दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक बिंदुओं पर टिका हुआ है। समाज की उन्नति के लिए वे यंत्र तथा अर्थशास्त्र को साथ लेकर बढ़ने का अह्वान करते हैं।

उनके सूक्ष्म भावों, विचारों और प्रसंगानुकूल भाषा एवं शैली से पाठक अभिभूत होकर उनके रचना-संसार में विचरण करने लगता है। उनके अंग्रेज़ मित्र यीट्स तथा विलियम रोथेन्स्टाइन (कलाकार) उनकी प्रखर प्रतिभा से अत्यंत प्रभावित थे। उन्हीं की प्रेरणावश कवि ने अपनी कुछ कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रस्तुत किया। बंगाली भाषा में उनका एक गीति संग्रह ''गीतांजलि'' पहले ही प्रकाशित हो चुका था। अतएव कुछ संवर्धन-परिवर्तन से इसी शीर्षक के अन्तर्गत उनका अंग्रेज़ी काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। पौर्वात्य रहस्यवाद के गूढ़ हृदयस्पर्शी संवेगों ने पाश्चात्य मानस को बेहद प्रभावित किया। फलस्वरूप इसी कृति पर उन्हें ''नोबेल पुरस्कार'' से सम्मानित किया गया।

यह सत्य है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का शुभारंभ कविता-लेखन से किया था। गीतों की विधा को उन्होंने 2000 से अधिक गीतों से परिपुष्ट किया जिसे ''बाङला'' संस्कृति में एक गुणात्मक अभिवृद्धि के तौर पर स्वीकार किया गया। कवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि ने साहित्य की अन्य विधाओं में उनके योगदान को प्राय: पीछे छोड़ दिया-जबकि यथार्थ में उनका लेखकीय व्यक्तित्व साहित्य की समस्त शाखाओं में प्रस्फुटित होता है। अपनी लेखनी के माध्यम से भाषिक एवं बौद्धिक चमत्कार उत्पन्न करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। उनके लेखन का कालातीत अनुभव मात्र बंगाल या बंगालियत तक सीमित न रह कर भारत की समस्त भाषाओं में फैल गया। नोबेल पुरस्कार ने उस के विश्वस्तरीय होने पर मुहर लगा दी। भारतीय भाषाओं के अनेक परवर्ती लेखक उनकी लेखन-शैली एवं वैचारिकता से प्रभावित हुए। डोगरी भाषा के अग्रणी कवि केहरि सिंह 'मधुकर' की कविता में टैगोर काव्य से संपर्क के पश्चात् एक गहरा परिवर्तन दिखाई पड़ता है। अपने आरंभिक कवि-जीवन में वे समस्यामूलक अथवा वर्णनात्मक कविताएं लिखा करते थे-किंतु टैगोर की ''इकोत्तर शती'' का डोगरी अनुवाद करते हुए वे उनके भाव-जगत में ऐसे डूबे कि उनकी अपनी काव्य-धारा रबींद्र रंग में रंग गयी। मधुकर उच्च स्तर के कवियों में गिने जाने लगे। भारतीय भाषाओं में ऐसे कवि पर्याप्त संख्या में हैं जो रबींद्र काव्य का दम भरते दिखाई पड़ते हैं।

रबींद्रनाथ ठाकुर वस्तुत: मात्र एक लेखक ही नहीं लेखन का मूर्तमान युग ही हैं। उनकी

वैचारिकता में भारतीयता के सर्वोच्च प्रतिमानों को लक्षित किया जा सकता है। उनके उपन्यास, नाटक, कहानियां, निबंध आदि पाठकीय मानस पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कवि का व्यक्तित्व आकार में इतना विस्तीर्ण है कि उन्हीं के अन्य साहित्यिक प्रयत्नों पर हावी दिखाई देता है। उनके कवि व्यक्तित्व ने उनके पांडित्य को आच्छादित कर रखा है। यदि उनके गूढ़-चिंतन तथा प्रगाढ़ जीवन-दर्शन से साक्षात्कार अभीष्ट हो तो उनके निबंधों का अवगाहन करना होगा। मानव के इतिहास विशेषतया पुराण, अध्यात्म, साहित्य एवं दर्शन के उपयुक्त उदाहरण उनके गहन अध्ययन की साक्षी देते हैं। अवधारणा की सृष्टि करते हुए वे प्रत्येक उदाहरण में विज्ञान-सम्मत दृष्टि को अपने संग रखते हैं। बुद्धदेव के विषय में लिखित उनके निबंध का यह अनुच्छेद देखें-

''मनुष्यत्व का यह प्रकाश आज दुनिया के अधिकाँश लोगों में व्याप्त है। कहीं वह स्पष्ट है, कहीं ओझल। पृथ्वी की जब सृष्टि हुई उस समय भूमंडल वाष्प के घने आवरण से ढका हुआ था। उस समय केवल थोड़े-से पर्वत-शिखर इस आवरण से ऊपर उठकर आलोकित थे। आज भी इसी तरह अधिकतर लोग अपने स्वार्थ से, अहंकार से और अवरुद्ध चैतन्य से प्रछन्न हैं।''

पृथ्वी के आरंभिक दौर में भूमंडल में सर्वत्र वाष्प कणों के आच्छांदन की बात केवल वही लेखक करेगा जो पृथ्वी के वैज्ञानिक विकास की गहन जानकारी रखता हो। अपने तर्क का निर्माण करते हुए वे आगे कहते हैं- ''असमाप्ति के इस घने आवरण के बीच हमें मनुष्य का परिचय कैसे मिलता यदि प्रकाशवान् महापुरुषों के रूप में मानवता का सहसा आविर्भाव न होता ? मनुष्य का यह महाभाग्य था कि भगवान् बुद्ध में मनुष्य का सत्य-स्वरूप देदीप्यमान हुआ। उन्होंने मानव-मात्र को अपने विराट हृदय से ग्रहण किया और मानवता को प्रकाशित किया। 'न ततो विजुगुप्स्ते-उन्हें गोपन कौन रख सकता है ? देश-काल की कौन-सी सीमा, प्रयोजन-सिद्धि की कौन-सी प्रलुब्धता, उन्हें छिपा सकती है ?''

प्रकृति को समर्पण और कर्मनिष्ठा-

कविवर अपनी रचनाओं में प्रकृति की निकटता के समर्थक बनकर सामने आते हैं। प्रकृति पर आश्रित जीवन एवं प्रकृति-चित्रण को अधिमान देते हुए दिखते हैं, किंतु किसी भी स्थिति में वे जीवन से पलायन को आदर्श नहीं मानते।

जो लोग जीवन में इच्छित साधन नहीं पाते अथवा अन्य सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं, वे पलायनवादी दर्शन के भिक्षुक बनकर अध्यात्म की कर्म-निषेधिनी धारा के अनुगामी बने दिखाई पड़ते हैं। इस विषय में कवि का कथन है- ''जो सारे जगत का भूपा है उसे उपलब्ध करने की साधना में कभी-कभी यह उपदेश मिलता है- लोकालय छोड़ो, गुहा में जाओ, अपनी सत्ता को, अपनी सीमा को विलुप्त करके असीम में अंतर्निहित हो जाओ।'' इस साधना के विषय में कुछ कहने का अधिकार मुझे नहीं है। मेरा मन जिस साधना को स्वीकार करता

है, वह कहती है–अपना त्याग न करो, अपने बीच ही उस महान पुरुष को उपलब्ध करने का क्षेत्र है, वह निखिल मानव जाति की आत्मा है।''

प्रकारांतर से नहीं, वे सीधे-सीधे कर्मनिष्ठता को सदा सतुत्य मानते हैं। उनका मानना है कि भारत जो आज विश्व-मंच पर पुनः एक जीवंत राष्ट्रीयता के रूप में उभर रहा है, यह इसीलिए संभव हो सका क्योंकि इसने जीवन की प्रवाहमान धारा से मुख नहीं मोड़ा। इस विषय में उन का कथन है– ''दुर्दिन के घोर अंधकार में भी भारत ने तामसिकता के सामने आत्म-समर्पण नहीं किया। दुःस्वप्नों के भार ने जब कभी उसके सीने पर बैठकर उसकी साँस रोकनी चाही, तब उस भार को दूर हटाकर सरल-सत्य के बीच जाग उठने का प्रयत्न उसके चैतन्य ने अभिभूत दिशा में सर्वदा किया है।''

राष्ट्र की दृढ़ आस्था का आश्वासन देकर वे सदियों के अंतराल में होने वाली दुर्दशा का वर्णन करते हुए उसके उठ खड़े होने तथा आधुनिक युग के संपर्क में आने का उल्लेख यों करते हैं–''आज हम जिस युग के बीच से गुजर रहे हैं, उसे बाह्य रूप से स्पष्ट नहीं देख सकते। फिर भी हम अनुभव करते हैं कि भारतवर्ष अपने सत्य को, अपने 'एक' को अपने सामंजस्य को फिर से प्राप्त करने के लिए उद्यत है। नदी को कितने ही बाँधों से रोक दिया गया था, दीर्घकाल तक उसकी धारा रुक गयी थी। आज प्राचीर टूट चुकी है, स्थिर जल का महासमुद्र के साथ फिर से सम्पर्क हो रहा है, विश्व का ज्वारभाटा फिर से हमें स्पर्श कर रहा है।''

वर्तमान भूतकाल में नहीं लौटेगा, यह बदलेगा और उज्जवल भविष्य की ओर ले जाएगा। दासता के संग आई दुर्दिनों की शृंखला टूटेगी और उभयकारी वृत्तियों का स्वतंत्रता से साक्षात्कार होगा। एक दूर द्रष्टा के रूप में कवि बेहतर कल के लिए आश्वस्त है। कवि रबींद्रनाथ ठाकुर ने अपने समय के प्रश्नों को अपनी विभिन्न रचनाओं में सार्थक अभिव्यक्ति दी है।

सन् सत्तावन के स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर बुनी गयी कहानी ''दुराशा'' में उन अनेक रुकावटों और रूढ़ियों का चित्रण भी करते हैं जिनके रहते स्वतंत्रता के विवाद से उठने वाला ज्वारभाटा अंततः पराजय को प्राप्त हुआ। एकता की कमी, धार्मिक रूढ़ियां, विश्वासघात तथा स्वार्थों के बीच से होकर गुजरे स्वतंत्रता के उद्घोष वांछित परिणाम न प्राप्त कर पाये। कहानी का सौंदर्य इस पृष्ठभूमि से बाधित नहीं होता। केशरलाल के मर्यादित जीवन तथा अक्खड़ता पर दिल लुटा चुकी नवाबज़ादी अपने प्रेम को पाने के लिए महलों की सुविधाएं तज कर उस केशरलाल पर फिदा हो जाती है जिसने राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण गोरों के विरुद्ध लड़ने की शपथ खाई थी। लेखक ने कहानी के माध्यम से निष्ठागत कमजोरियों को बखूबी उभारा है। केशरलाल की राष्ट्रीय निष्ठा उसकी धार्मिक आस्था से बढ़कर नहीं है। मृत्यु के कगार पर पड़े घायल केशरलाल को नवाबज़ादी इसलिए पानी पिलाती है ताकि उसकी प्राण-रक्षा हो सके वह होश में आने पर विधर्मी की बेटी द्वारा जल पिलाये जाने पर बिफर उठता है। धार्मिक उन्माद का प्रभाव है कि वह उसे ठुकरा देता है, किंतु नवाब की

बेटी इस अक्खड़ ब्राह्मण पर पूरी तरह फिदा है। उसकी धमनियों में किसी ब्राह्मण का रक्त दौड़ रहा है। शायद इसी तथ्य के कारण उस स्वतंत्रता प्रेमी को वह पाना चाहती है? केशरलाल स्वतंत्रता संग्राम में पराजित होने पर जगह-जगह भटकता है। नवाबज़ादी उसके प्रेम में दीवानी उसे पाने के लिए क्या कुछ नहीं करती। अपना सब कुछ तजकर वह योगिनी बनकर स्वामी शिवानंद को पिता समान मानते हुए उनके पास संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन करती है। वह स्वयं को उस श्रेष्ठ ब्राह्मण के उपयुक्त बनाना चाहती है और लगातार उसकी तलाश करती रहती है। जिस केशरलाल की मुक्ति स्वतंत्रता में वास करती है, उसी केशरलाल को नवाबज़ादी अपने जीवन का लक्ष्य-अपनी मुक्ति मानती है। अड़तीस वर्षों तक वह अपने उच्चादर्श और ब्राह्मणत्व पर अडिग रहने वाले केशरलाल की तलाश में भटकती रहती है। तब एक दिन उसका आमना-सामना, दार्जिलिंग के भोटिया मुहल्ले में उस वृद्ध आदर्श से एकाएक हो जाता है जहाँ केशरलाल भोटिया स्त्री एवं उससे उत्पन्न पौत्र-पौत्री को लिए, मैले-कुचैले कपड़े पहने, मैले आंगन मैं भुट्टों से अनाज निकाल रहा है। उसके जातीय गौरव की यह परिणति देखकर साध्वी नवाबज़ादी की आस्था और विश्वास एकाएक चरमरा उठते हैं। उसने अथक योगिनी की तरह उस ब्राह्मण के अनुरूप योग्यता अर्जित करने में अपने यौवन की स्वर्णिम अवधि दाँव पर लगा दी थी। सहसा उसके हृदय से निकला-''हाय रे ब्राह्मण! तुम ने अपने अभ्यास के बदले में एक और अभ्यास ग्रहण कर लिया है, मैं अपने उस यौवन, उस जीवन के बदले में दूसरा जीवन, यौवन अब कहाँ पाऊंगी।''

हमारे समाज में पलने वाली ''हिपाक्रेसी'' पर अनेक प्रश्न चिह्न लगाकर यह कहानी समाप्त होती है। कहानी वस्तुत: मानवीय कमज़ोरियों पर प्रश्नचिह्न टाँकती है। इस कहानी के माध्यम से लेखक मूलभूत मानवीय सरोकारों को दक्षता से उठा कर सामने रखते हैं।

प्रवृत्तिवादी की वृत्ति-

कवि रबीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्य उनके जीवन-दर्शन का परिलक्षण भी करता है। उनकी रचनाओं में विविध उत्प्रेरणाएँ बिखरी दिखाई पड़ती हैं। गतिशीलता उनकी लेखनी का अमर गीत है। सरिता के प्रवाहमान जल की तरह बहते रहने को वे जीवन का संदेश मानते हैं। ''एकला चलो रे'' के उद्घोष में प्रयत्न का संवेग वर्तमान है।

मानव जन्मत: साहस की विरासत लेकर पैदा होता है। कवि का मानना है कि सृष्टि के रचयिता ने मानव-जीवन की रचना में साहस का परिचय दिया है। उसने मानव के अंत:करण को बाधाहीन बनाकर उसके चित्त को स्वछंद आकाश देकर उसे असंभव को संभव बनाने की अन्यतम शक्ति प्रदान की है। सदियों तक मनुष्य अवरोधों के प्रति बे-परवाह रहकर जीवन को निरंतर सुचारू बनाने में जुटा रहा। कविवर के अनुसार-''मनुष्य ने अपने इतिहास के प्रथम चरण में जब प्रचंडकाय प्राणियों के भीषण नखदंतों का सामना किया तो उसने हिरण की तरह पलायन करना नहीं चाहा, न कछुए की तरह छिपना चाहा।''

पलायन की निषेधहीनता मानव का प्राकृत स्वभाव ही है। उसने प्रकृति और जीव-जगत

की ललकारों का सामना किया। पत्थरों के साधन और हथियार निर्मित करने वाला मानव आज पृथ्वी के गर्भ में छिपी अमूल्य धातुओं एवं प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके सृष्टि के विकास-चक्र में अपना विज्ञानाश्रित महत्त्व स्थापित कर चुका है। कविवर टैगोर मानव की इसी महिमा, इसी विरासत के प्रचलन के समर्थक हैं।

महात्मा गांधी का समर्थन : कपड़ों की होली का नहीं–

देश की स्वतंत्रता के लिए चल रहे तत्कालीन आंदोलन पर दृष्टिपात करते हुए रबींद्रनाथ ठाकुर विभिन्न विचारधाराओं की समीक्षा करते हुए अपना पक्ष रखते हैं। उनका मानना है जब तक हमारे नेता मात्र अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त लोगों की ओर देखते रहे देश के लिए काल्पनिक समाधान और सतही अवधारणाएँ ढूंढ़ते रहे। वे लोग देश की जड़ों से कटे हुए थे। उनके लिए देश अंग्रेज़ी भाषा की वाष्प से निर्मित एक मरीचिका-जैसा था। उस मरीचिका में बर्फ, ग्लड्स्टन, मेजिनी, गेरीबाल्डी की अस्पष्ट प्रतिमाएं ही दिखाई पड़ती थीं।

महात्मा गांधी का आगमन देश के हित में परम हितकारी सिद्ध हुआ। भारत के कोटि-कोटि जनों ने उनमें अपना पथ-प्रदर्शक पाया। गांधी जी ने उन लोगों की भाषा में अपनी बातें कहीं। महात्मा ने देश की परंपरा में लोकमानस का जो उद्बोधन किया उससे ''देश के हृदय का प्रेम'' छलक उठा। कवि रबींद्र इससे अभिभूत हो उठे। उन्हें लगा सदियों से अवरुद्ध पड़े देश के स्वर मुक्त हो गए हैं। गाँधी जी के प्रति आशावान होते हुए भी उन्हें देश में उभर रही बिडंबनाओं का स्पष्ट आभास हुआ। आज़ादी के आंदोलन में जब विदेशी कपड़े की होली जलाई जाने लगी– रबींद्रनाथ ठाकुर को इसमें औचित्य का अभाव दिखाई दिया। बहुत गहराई में जाकर उन्होंने इस बात को विश्लेषित किया और कहा–''आज वस्त्र के अभाव से लज्जित और कातर देश में कपड़ों के ढेर जलाये जा रहे हैं। *** कपड़े के व्यवहार अथवा वर्जन के साथ अर्थशास्त्र का घनिष्ट संबंध है। *** जो मनुष्य कपड़े का त्याग कर रहा है, उसके पास काफी कपड़े हैं और जिससे जबरदस्ती त्याग कराया जा रहा है वह कपड़े के अभाव में घर से बाहर नहीं निकल पाता।''

अपने भिन्न एवं मौलिक विचारों एवं तर्कों द्वारा वे विदेशी कपड़े की होली जलाने को तर्क-संगत नहीं मानते। वे इसे प्रगति एवं सत्य से दूर भागने का प्रयास मानते हैं। कविवर विश्व-भर में यंत्र-क्रांति को प्रगति का संसूचक मानते हैं। किंतु यंत्र द्वारा मानव को गुलाम बनाने की प्रवृत्ति पर वे आक्षेप भी करते हैं। उनके शब्दों में–''जिस यंत्र के आंतक से पृथ्वी पीड़ित है, उसका जब महात्मा जी विरोध करते हैं तब मैं उनके साथ हूं। लेकिन, जो मोहमुग्ध, मंत्रमुग्ध आज्ञाकारिता देश के दैन्य और अपमान की जड़ है उसकी सहायता करते हुए मैं यंत्र के विरुद्ध लड़ाई नहीं करूंगा। उसी के विरुद्ध तो हमारा मुख्य संघर्ष है, उसको पराजित करके ही हमें अंदर-बाहर का स्वराज्य मिलेगा।''

कविवर विदेशी कपड़ा जलाने को अर्थशास्त्र मूलक भूल मानते हैं। बहुत से लोगों ने उन्हें अपना पक्ष रखने के लिए फिल्हाल मुंह बंद रखने को कहा। अंततः उन्होंने सत्याग्रह

की समीक्षा में लिखित अपने निबंध ''सत्य का अह्वान'' में अपने हृदय की बात कह दी। यह जानते हुये भी कि जन समुदाय का सैलाब उनके विचारों को नहीं सराहेगा उन्होंने कपड़ा आंदोलन के विषय में किसी व्यक्ति द्वारा 'संपादक को पत्र' कालम में अपने कुछ विचार बड़ी सौम्य भाषा में रखे थे। असहिष्णु पाठक-मंडली ने उस अखबार की भी होली जला डाली।

अंदर-बाहर के स्वराज्य की चाहत रखने वाला कवि रबींद्रनाथ ठाकुर वस्तुगत तथ्यों के प्रति आँखें मूंदने की वृत्ति पर पीड़ित अनुभव करता है। दूसरी ओर वे गांधी जी के अनन्य समर्थक हैं। इसीलिये कहते हैं- ''महात्मा ने अपने सत्य प्रेम से भारत का हृदय जीत लिया है और इसके लिए हम सब उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। इस सत्य की शक्ति को देखकर हम कृतार्थ हैं।''

स्वराज्य प्राप्ति के स्वप्न की पूर्ति हेतु सहमत होकर भी वे मात्र अंग्रेज़ों के प्रशासन से मुक्ति ही नहीं चाहते हैं अपितु वे हमारे भीतर पैठ चुकी गुलामी की उस वृत्ति से भी मुक्ति की कामना करते हैं जो हमें अंध-आज्ञाकारिता और बुद्धि-प्रवीणता के निषेध की ओर ले जाती है। हमारे अंतस में पराधीनता के जो अनेक सूत्र उलझे हुए पड़े हैं, उनसे बच निकलने को वे अंदर की आज़ादी मानते हैं। लक्ष्य के साथ-साथ साधन को भी मज़बूती देने का आग्रह उनकी ऋषि-दृष्टि का परिचायक है। भावना और तथ्य को पहचानने की आवश्यकता आज भी बेहद प्रासंगिक दिखाई देती है जबकि हमें आज़ाद हुए छः दशक पूरे हो चुके हैं।

यथार्थवाद की वास्तविकता-

रबींद्रनाथ ठाकुर ने काव्यशास्त्रीय मुद्दों पर अपने एकाधिक निबंधों में सविस्तार विचार किया है। उनके विचार, धारणाएं तथा निष्कर्ष मौलिक हैं। उन्होंने साहित्य के अनुशासन और स्वरूप एकाधिक रचनाओं में अनुशीलन किया है। वे काव्य की समालोचना के विरोधी नहीं हैं, किंतु साहित्य-समालोचना में विनय की अनुपस्थिति को लक्ष्य करते हुए वे स्पष्ट करते हैं - साहित्य-समालोचना में कोई किसी तरह की पूंजी के लिए सब्र नहीं करता क्योंकि समालोचक का पद एकदम निरापद होता है। समालोचकीय सरोकारों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारकों से कवि की विशुद्ध स्वानुभूति कभी-कभी विकृत हो जाती है। समालोचक को हवा में बह नहीं जाना चाहिए, न ही उसे बाज़ार में चलने वाले आदर्शों की नकल के कृत्रिम नक्शे ही काटने चाहिए। बाङला भाषा में 1914 ई. के आस-पास साहित्य में यथार्थवाद पर परिचर्चा ज़ोरों पर थी। प्रकारांतर से इस परिचर्चा का लक्ष्य रबींद्रनाथ ठाकुर एवं उनका आदर्शोन्मुख विचारवाद था। यथार्थवाद की आड़ में आक्षेप लगाया जा रहा था कि उनकी रचनाओं में छायावादी अस्पष्टता छाई रहती है। इसके अतिरिक्त और भी ऐतराज़ थे।

तब अपना पक्ष रखने हेतु उन्होंने निबंध लिखा- ''वास्तविकता'' ('सबुज पत्र' जुलाई-अगस्त 1914 ई. में प्रकाशित) कविवर मानते हैं कि अपने वक़्त में श्रेष्ठ कवियों को उनका श्रेय कम ही मिला करता है। किसी वर्ग द्वारा उनके साहित्य को लोक-हितैषी न होने के

आरोप के प्रत्युत्तर में उन्होंने सार गर्भित उत्तर देते हुए कहा कि कवि कालीदास यदि लोक-हितैषी होते तो वे शायद पाँचवीं शताब्दी की उज्जयिनी के किसानों की प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखते। ऐसा होता तो उसके बाद इतनी सब शताब्दियों की क्या दशा होती। यथार्थवादी वाद-विवाद के हो-हल्ले में रबींद्रनाथ ठाकुर ने विनीत, सुविचारित और अपनी शैली के अनुकूल प्रत्युत्तर दिया। वे मानते हैं कि साधारण लोग मेघदूत, कुमार संभव, शकुंतला नहीं पढ़ते, उन्हें तो रामायण और महाभारत से सरोकार है क्योंकि इन में शुरू से आखिर तक सब कुछ असाधारण है। प्रकारांतर से वे पूछते हुए दिखाई पड़ते हैं कि तुम्हारे यथार्थवाद से जन-मानस को क्या लेना-देना ?

कविवर इंग्लैंड का उदाहरण देते हुए उस देश में चल रही साम्राज्यवादी आँधी का गुणानुवाद करने वाले कवियों और विश्व-प्रकृति के आनंद का स्त्रोत ढूंढ़ने वाले वर्डसवर्थ, कीट्स, शैली प्रभृति कवियों का उदाहरण देकर पूछते हैं – ''जो सब समालोचक साहित्य की हाट में वास्तविकता (अर्थात् यथार्थवाद) की दलाली करते रहते हैं, उन्होंने ''वर्डसबर्थ'' की कविता का आदर किस प्रकार किया था, इसे इतिहास जानता है। ''शैली'' को उनके देश ने उस दिन अस्पृश्य-आत्मज के समान घर में घुसने नहीं दिया और ''कीट्स'' को मृत्यु-बाण मारा।''

मात्र स्थूल का अंकन करने वाला यथार्थवादी साहित्य कितनी देर तक टिक पायेगा – यही कवि की चिंता है। इस संदर्भ में वे कहते हैं – और भी आधुनिक दृष्टांत ''टेनिसन'' हैं। वे विक्टोरिया-युग के प्रचलित लोकधर्म के कवि हैं। इसी से उनका प्रभाव देश में सर्वव्यापी था। लेकिन विक्टोरिया युग की वास्तविकता जितनी ही क्षीण होती जा रही है टेनिसन का आसन भी उतना ही संकीर्ण होता जा रहा है। उनका काव्य जिस गुण के कारण टिका रहेगा। वह चिरंतन रस का युग है, उस में विक्टोरियन ब्रिटिश-वस्तु बड़ी मात्रा में है, इस कारण नहीं – वही स्थूल वस्तु हर रोज़ ढलती जा रही है।''

अपने इस निबंध में कविवर ने यथार्थ का दम भर रही यधार्थवाद की विचारधारा पर नपी-तुली एवं शालीन भाषा में प्रत्याघात करके बड़ी सफलता से अपना पक्ष प्रस्तुत किया है। लोकवादी-साहित्य से शुद्ध साहित्य को अलग करके वे अपनी रचना दृष्टि को सुस्पष्ट शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं। निबंध के अंत में इस भ्रम को दूर करने के लिए कि वे समालोचना के विरोधी हैं – वे कहते हैं कि कवि के काव्य का आकलन अवश्यंभावी है, किंतु समालोचना इतर उद्देश्यों से प्रेरित नहीं होनी चाहिये। उनके शब्दों में – कवि चाहे नाराज़ हों चाहे खुश, उनके काव्य पर विचार करना ही होगा –जो लोग उनके काव्य को पढ़ेंगे वे सभी उस पर विचार करेंगे – उस विचार पर सब एकमत न होंगे।''

❖ ❖ ❖

रबीन्द्रनाथ टैगोर और कश्मीर

❑ मूल (उर्दू) : गुलाम नबी ख़्याल

महाकवि रबीन्द्रनाथ टैगोर ने जबकि अपने जीवन में केवल एक बार कश्मीर का दौरा किया, परंतु कश्मीर घाटी में प्रवास के दौरान उन्होंने जो सुन्दर यादें अपने मन-मस्तिक में संजोई थीं वह बाद में समय-समय पर उनके विचारों से प्रकट होती रहीं।

टैगोर अक्तूबर 1915 में कश्मीर आए जब कश्मीर पर डोगरों का शासन था। यह हकूमती सिलसिला 1846 से लगातार जारी था। (जब महाराजा गुलाब सिंह ने सारे कश्मीर को अंग्रेज़ों से सिर्फ 75 लाख रुपयों में खरीदा था। इस सौदेबाजी से कश्मीर की भूगोलिकता के अलावा पूरे कश्मीर और पूरे मुल्क की हर एक चीज़ नदी, नाले, बागों, चश्मों पर भी प्रभाव पड़ा। अलामा इकबाल ने इसी सौदेबाजी को जिसे ''ब्यानामा अमृतसर'' का नाम दिया गया था, यह कह कर पूरे कश्मीर की खस्ता हालत को ब्यान किया है-

दहकान वकशत बजोये बखेयाबां

कोमे फरोखतंद वचा अरजां फरोखतंद।

टैगोर उसी डोगरा शासन के महाराजा प्रताप सिंह के समय में कश्मीर आए। इस प्रवास में उनके साथ उनका नेता रथेंद्र नाथ, बहू और एक नौजवान बंगाली कवि सतीन्द्र नाथ शामिल थे।

टैगोर को कश्मीर आने का निमंत्रण जगदीश चन्द्र चटर्जी नामक एक व्यक्ति ने दिया था जो स्वयं बंगाली था और कश्मीर की सरकार के तहकीकाती महकमें में सुप्रीटैण्डैंट था। यह विभाग उन दिनों विद्यापीठ भी कहलाता था।

टैगोर जब रावलपिण्डी के रास्ते कश्मीर आए तो चटर्जी ने अतिथियों का स्वागत किया और उन्हें डल झील के किनारे एक हाऊसबोट में ठहराया जिसका नाम ''परिस्तान'' था। इस हाऊसबोट में सारा फर्नीचर कश्मीर की प्रसिद्ध अखरोट की लकड़ी पर नक्काशी और कलाकारी के सुन्दर और दिलकश नमूनों से भरा हुआ था। उस सजावट में कश्मीरी कालीन और रेशमी पर्दों ने चार चांद लगा दिये थे।

---

* *यह आलेख अकैडमी द्वारा रबींद्रनाथ टैगोर पर आयोजित सेमीनार में पढ़ा गया है।*

इस दौरान चटर्जी स्वयं मेहमानों का आदार-सत्कार करता रहा और टैगोर और उनके हमसफरों की इच्छा को भी खुशी-खुशी पूरा किया। और उन्हें कश्मीर घाटी के सुन्दर स्थानों और पर्यटन स्थलों के दिलकश नज़ारे दिखाने ले गया।

उन दिनों कश्मीर में भी यह सरकारी आदेश था कि यदि कोई प्रतिष्ठित व्यक्तित्व कश्मीर के दौरे पर आए तो यह ज़रूरी है कि वह प्राथमिकता के तौर पर रैजीडैण्ट साहब के कार्यालय पर हाज़िरी दे कर वहाँ मेहमानों की किताब पर अपने विचार कलमबद्ध करे। टैगोर को जब इस बात की सूचना दी गई तो उसने यह रस्म निभाने से इंकार कर दिया और अपने मेज़वान से दोटूक शब्दों में कहा ''न तो मैं महाराजा से भेंट करूंगा और न ही अंग्रेज़ रैजीडैण्ट के पास जाऊंगा।'' टैगोर की नज़रों में कश्मीर की बेबस और मज़लूम जनता (प्रजा) महाराजों और शासकों से ज़्यादा हमदर्दी की हकदार थी जो चिथड़ों से अपने तन ढांप कर और अपना खून-पसीना एक करके भी दो वक़्त की रोटी कमाने में सक्षम न थी।

टैगोर के श्रीनगर प्रवास के दौरान यहां के प्राचीन शिक्षा केन्द्र श्री प्रताप कालेज की तरफ से टैगोर को आमंत्रित किया गया कि वहाँ आकर वे विद्यार्थियों को भाषण दें। कालेज में इस विशेष अतिथि का भव्य स्वागत किया गया। महाकवि के स्वागत के लिए कालेज के सभी विद्यार्थी सभागार में एकत्रित हो कर उत्सुकता से प्रतीक्षारत थे। जब टैगोर ने हाल में प्रवेश किया तो सभी विद्यार्थियों ने खड़े होकर देर तक जोर-जोर से तालियां बजा कर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उस अलम्बरदार का स्वागत किया।

महाकवि जब भाषण देने के लिए उठे तो उन्होंने विद्यार्थियों से पूछा कि क्या उनमें से किसी के पास उनका काव्य संग्रह् ''गीतांजलि'' है। ''गीतांजलि'' को दो साल पहले सन् 1913 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

एक विद्यार्थी खड़ा होकर टैगोर के पास आया और उन्हें गीतांजलि भेंट की। इसके बाद महाकवि ने वह असरदार एवं सदाबहार नगमा छेड़ कर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया, जिसमें इंसान की राष्ट्रप्रेम और उसकी इस दृढ़ इच्छा का वर्णन है। एक कवि की नजरों में अनपढ़ता, गरीबी, छोटे-बड़े का भेदभाव आदि से पवित्र उसका वतन कैसा होना चाहिए। मुनावर लखनवी ने उस नगमें का अनुवाद किया है:-

जहां ऊंचा रहे सर बू ना कुछ खतरे की आती हो

जहां तालीम में पैदा रुकावट की ना जाती हो

जहां झगड़ों बखेड़ों ने हज़ारों घर ना खा लें हों

जहां दुनिया के टुकड़े तंगियों ने कर ना डाले हों

जहां तेरी कयादत में यह दिल महके तरक्की हो

जहां तेरी हिदायत बाहसे तजीन क़लवी हो

जहां पर होशियारी में बढ़े आगे वतन अपना

वहां ऐ मेरे ख़ालिक नींद से जागे वतन अपना।

कुछेक स्थानों पर यह भी जानकारी मिलती है कि तकरीबन दो सप्ताह तक कश्मीर में प्रवास के दौरान टैगोर ने जनता के लिए आयोजित एक कवि सम्मेलन में मुशायरे की अध्यक्षता की थी जो श्रीनगर शहर में दरिया जेहलम के किनारे जीनाकदल पुल के बाएं किनारे पर स्थित प्रसिद्ध मुकामी दानिश्वर एवं प्रसिद्ध पंडित आनंद कौल बामज़ी के घर पर सम्पन्न हुआ और एक रिवायत के अनुसार उस महफिल में टैगोर ने महजूर कश्मीरी और मास्टर ज़िंदा कौल कश्मीरी का कलाम सुन कर उनकी दिल खोल कर प्रशंसा की।

कश्मीर में टैगोर ने वह मार्तण्ड के मंदिर भी देखे जो आठवीं सदी में राजा ललितादित्य के शासनकाल में खालिस पत्थरों से बनाए गये थे। यह बे-मिसाल प्राचीन मंदिर देख कर वह इतना खुश एवं प्रभावित हुए कि उन्होंने इन्हें कई बार देखा। यह मंदिर श्रीनगर से पश्चिम की ओर लगभग 40 किलोमीटर दूरी पर स्थित हैं।

कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य की कशिश एवं डल झील में हाऊसबोट में ठहरना ही टैगोर की भीतर की कला को शायरी की तरफ आकर्षित करने के लिए काफी था। उन्हीं दिनों टैगोर ने कश्मीर पर एक कविता लिखी जिसका शीर्षक ''मानसी'' था। उस कविता की कुछ पंक्तियां देखें। छंदमुक्त शैली में अनुदित कविता की पंक्तियां इस प्रकार हैं:-

आज अलीउल सुबह इस बाग में

शबनम के कतरे दरिया के किनारे वेदजारों पर

धूप में एक सरसराहट के साथ रोशन हैं

फिर वेद के यह दरख्त एक-दूसरे के करीब आते हैं

और शायर के दिल में एक जान होकर अपनी जगह बना लेते हैं

फिर मुझे ऐसा लगता है

कि वो एक ही जगह जमा हुए हैं

गोया यह एक अथाह समुन्द्र में

कमल के फूल की तरह घूमती नज़र आती है

और इस तरह आवाज़ के साथ आवाज़ हमअहंग हो जाती है

कश्मीर की सैर के दौरान टैगोर डल झील से स्थानांतरित हो कर झेलम दरिया के किनारे राममुन्शी बाग के क्षेत्र में एक और हाऊसबोट में रुके जहां उन्होंने इस विषय पर ''बलाका'' (राज हंसों की उड़ान) नामक एक और कविता लिखी जिसमें कवि ने कश्मीर के अनुपम सौंदर्य का चित्रण किया है। इस कविता में सौंदर्य अनुभूति का वर्णन है। एक शाम को टैगोर हाऊसबोट की ऊपरी छत पर बैठ कर दरिया की लहरों का नज़ारा देख रहे थे कि उसी समय हंसों का एक झुंड उड़ान भरते हुए एक ओर से दूसरी ओर उड़ता रहा। यह हंस समीप में ही एम्पोरियम बाग में गगनचुम्बी चिनारों पर रहते थे। कविता इस प्रकार है:-

शफ़क-ए-शाम की छांव में झेलम की लहरें

तलाई सितारों की तरह रोशनी बिखेर रही हैं

सितारों का जलूस

पानी पर बहते हुए फूलों की तरह जा रहा है

दरिया के किनारे दूर-दूर तक

पहाड़ और कोह दीवारों की तरह इस्तादा निगाहेवान है

और तखलीक एक ख्वाव में अपनी तामील ढूंढ़ रही है।

सन 1916 में टैगोर का बंगाली भाषा में लिखा काव्य संग्रह ''बलाका'' शीर्षक से छप कर सामने आया, इसमें टैगोर ने कश्मीर पर लिखी गई अपनी सभी रचनाओं को समाहित किया था।

कश्मीर के प्रसिद्ध कवि गुलाम अहमद महजूर कश्मीरी (मृत्यु सन 1952) और महाकवि टैगोर के आत्मीय सम्बंधों के बारे में कुछ सच्चाइयां भी ब्यान हुई हैं।

दर-असल टैगोर को महजूर के बारे में उस समय विशेष जानकारी प्राप्त हुई जब प्रसिद्ध अभिनेता एवं प्रगतिशील साहित्यकार बलराज साहनी ने शांतिनिकेतन की अंग्रेज़ी तिमाही पत्रिका ''विश्व भारती क्वाटरली'' के नम्बर 1938-जनवरी 1939 के अंक में महजूर पर एक लेख लिखा। इससे पहले श्रीनगर के उर्दू रोजनामा ''मार्तण्ड'' के 1935 के एक अंक में महजूर पर देवेन्द्र सत्यार्थी का एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसके साथ ही महजूर की एक कश्मीरी ग़ज़ल को जब किसी गैर कश्मीरी ने अंग्रेज़ी भाषा में अनूदित करके उसे बंगाल की प्रसिद्ध पत्रिका ''मार्डन रिव्यु'' में प्रकाशित कराया तो टैगोर और महजूर के आत्मीय सम्बंध विशेष रूप से प्रकट हुए।

''मार्डन रिव्यु'' (Modren Review) में जब टैगोर ने महजूर का अनुवाद पढ़ा तो उन्हें यह बहुत पसंद आया। उन्होंने शांतिनिकेतन के एक शिक्षक एवं फोक सांगस मिशन के डायरैक्टर देवेन्द्र सत्यार्थी को सन 1944 में महजूर के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर जानकारी जुटाने के लिए कश्मीर भेजा। देवेन्द्र सत्यार्थी ने कश्मीर में अपने एक माह के प्रवास के दौरान महजूर के काव्य एवं उनके जीवन के बारे में जानकारी एकत्रित की। जिसे बाद में आनंद कौल बामजई ने उर्द् भाषा में अनूदित किया। यह सारा काम जब सत्यार्थी ने वापिस जाकर टैगोर को दिखाया तो महाकवि बहुत खुश हुआ। उन्होंने उन के एक गीत का अनुवाद सुन कर कहा – ''अगर महजूर बंगाली भाषा से परिचित होता तो मैं नि: संकोच यह कहता कि उसने मेरे ही भावों को काव्य में डाला है। क्योंकि काव्य में उनकी सोच मेरी सोच से बहुत हद तक मिलती-जुलती है। एक और ब्यान के अनुसार टैगोर ने उन्हें कश्मीर का ''वर्डस्वर्थ'' कहा तो महजूर ने निम्नलिखित पंक्तियां कहीं:-

मेरे गुलशन में गुललाला खिले हैं

बाजवक लोग उनका हज़ उठा रहे हैं

कश्मीरियों को बंगाली बुलबुल मुबारक हो

मेरी सहेली; मैं अपना यौवन कैसे दिखाऊं?

कश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृत स्कालर और विद्वान स्व. प्रो. पृथ्वी नाथ पुष्प ने इस बात पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए लिखा है कि- ''यह बात अब भी पुष्टि करने योग्य है कि टैगोर ने किन शब्दों में ब्यान-ए-महजूर को अपनी प्रशंसा से नवाज़ा था। महजूर है जिसे बजाते-खुद लिखित तौर पर इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। और शांतिनिकेतन के मुहाफिज खाने में भी ऐसी किसी बात का प्रमाण नहीं मिल सका है।''

जहां कश्मीरी भाषा में रबीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं के अनुवाद का सम्बंध है तो देश के किसी भी साहित्यकार की इतनी रचनाएं अनुवाद के रूप में कश्मीरी भाषा में उपलब्ध नहीं हैं जितनी टैगोर की।

उन अनुवादों ने नि:संदेह कश्मीर के साहित्य को बंगाली साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण धरोहर से मालामाल किया है।

''गीतांजलि'' का कश्मीरी भाषा में उच्चकोटि का अनुवाद स्व. सर्वानंद कौल 'प्रेमी' ने गद्य में किया है। लेकिन इसमें महाकवि की उस काव्यकला एवं शैलीगत विशेषताओं का चित्रण उपलब्ध है जिन्होंने टैगोर को भारत के सभी कवियों में एक सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। ''फाल्गनी'' का अनुवाद मिर्जा आरिफ बेग ने किया है। यह दिलचस्य शायरी ड्रामा और मौसमों के हाल और मिजाज़ को इस अंदाज़ में ब्यान करता है, शायर के अनुसार अगर सर्दी का मौसम आ चुका है तो बहार भी कुछ दूर नहीं।

''चौखरवाली'' को पृथ्वीनाथ पुष्प ने कश्मीरी में अनूदित किया है। इस उपन्यास में मानवीय भावों की विभिन्न स्थितियों - 'इश्क और हवस', 'असूल और अमल' और 'घरानों और इश्क' में संतुलन का नक्शा एक चित्रकार की तरह कैनवस पर उतारा गया है।

''राजा और रानी'' नामक टैगोर का नाटक अमीन कामिल ने कश्मीरी में अनूदित किया। इसका विषय कश्मीर से सम्बंधित है। जिसमें अहल कश्मीरी के महत्त्व और इंसानी गैरत को बेहतरीन अंदाज़ में उजागर किया गया है। पंजाब का राजा विक्रम एक कश्मीरी राजकुमारी के प्रेम पाश में बंध कर उसके साथ शादी कर लेता है। और अल्हड़ इश्क की स्थिति में वह राजकुमारी के प्रेम में इस प्रकार डूब जाता है कि राज्य की शासन व्यवस्था, कर्त्तव्य और अपने विभिन्न अधिकारों को ताक पर रख देता है।

राजा की इस इश्कप्रस्ती से तंग आकर राजकुमारी के रिश्तेदार उसका शासन हथिया लेते हैं। राजा की लापरवाही का लाभ उठाते हुए राज्य को लूट-लूट कर अपने घर भरते हैं। राजकुमारी जब अपने पति से इस लापरवाही एवं देश की हालत का शिकवा करती है पर राजा अपनी विलासिता के समुन्द्र में इस कदर डूब चुका है कि उभरने का नाम ही नहीं लेता।

अत: राजकुमारी वापिस कश्मीर लौट कर अपने भाई कुमारसेन के पास जाकर उसे सारी स्थिति से अवगत कराती है और मदद मांगती है कि वह राजा को सही राह पर लाने में उसकी सहायता करे।

उधर राजा विक्रम अपनी पत्नी के भाग जाने से आग-बबूला होकर कश्मीर पर आक्रमण करता है। कुमारसेन एवं राजकुमारी एक जंगल में पनाह (शरण) लेते हैं। कुमारसेन राजा विक्रम के सामने घुटने टेकने से इंकार कर देता है और अपना कटा हुआ सिर उपहार स्वरूप राजा विक्रम को भेज देता है। यह उपहार राजा विक्रम के दरबार में स्वयं राजकुमारी लेकर जाती है। और वह भी ज़मीन पर गिर कर दम तोड़ देती है।

''कुर्बानी'' टैगोर के उन नाटकों का कश्मीरी अनुवाद है जिन्हें नूर मुहम्मद रोशन ने 1961 में पूरा कर लिया और जिसे श्रीनगर के मौलाना आजाद गर्ल्स कालेज से प्रकाशित किया। इस संग्रह में टैगोर के नाटकों ''कुर्बानी'' और ''चंडालिनी'' के अलावा एक और नाटक का अनुवाद शामिल है।

टैगोर के तीन और नाटकों ''डाकघर'', ''मुक्तधारा'' और ''गुललाला'' को क्रमश: अमीन कामिल, अली मुहम्मद लोन एवं नूर मुहम्मद रोशन ने कश्मीरी भाषा में अनूदित किया। रबीन्द्रनाथ टैगोर को कश्मीरी के एक प्रसिद्ध शायर स्व. मिर्जा आरिफ ने इन शब्दों में ब्यान किया है:-

तुम्हारी गीतांजलि कृष्ण की गीता है

तुम्हारी अमृतधारा आब-ए-हयात से लबरेज़ है

तुम्हीं ने सुराहियों के दहाने खोल कर

शराब से लबालब भर दिया

तुम्हारी गली में इसीलिए आशिकों का हजूम नज़र आता है

ख्याल और फिक्र का सौदा सस्ता मिलता है

लेकिन जांबाज़ अपना सिर देकर

तुम्हारी मौसिकी हासिल करते हैं

हर सू चर्चा है कि

साकी शराब तक्सीम कर रहा है

इसी खबर को लेकर आरिफ भी

तुम्हारी महफिल में आ पहुंचा है।

अनु० यशपाल शर्मा 'निर्मल'

❖ ❖ ❖

** संपर्क : वमन निवास, गढ़ी-बिशना, ज्यौड़ियां, अखनूर, जम्मू-181202*

सी.एफ. एंड्रयू के साथ रबीन्द्रनाथ टैगोर

टैगोर और कश्मीरी साहित्य

❑ प्रो० चमनलाल सप्रू

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक और 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में बंगाल की दो महान विभूतियां कश्मीर पधारी थीं। दोनों महापुरुषों ने न केवल कश्मीर के बुद्धिजीवी वर्ग को विशेष रूप से अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व एवं चिन्तन से प्रभावित किया अपितु स्वयं भी कश्मीर के भरपूर नैसर्गिक सौन्दर्य तथा महान सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्परा से कुछ-न-कुछ अवश्य प्राप्त किया। ये दो विभूतियाँ थीं-स्वामी विवेकानन्द और गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर।

कश्मीर के जनमानस को दोनों महापुरुषों की वाणी में अपने ही प्रदेश में जन्मे ऋषियों मनीषियों तथा सूफी-सन्तों विशेषकर लल्लेश्वरी तथा शेख नूरूद्दीन (नुन्द ऋषि) के 'वाखों' तथा 'श्रुखों' जैसी समानता दिखायी दी।

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ कश्मीर के त्रिक-दर्शन, जिसे आम भाषा में 'कश्मीर-शैविज़म' के नाम से संसार में जाना जाता है, से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। गुरुदेव 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त करने के तुरन्त बाद कश्मीर आये। इससे पूर्व कश्मीर के अधिकांश लोग महाकवि की रचनाओं से ही नहीं अपितु उनके नाम से भी बेखबर थे। विश्व-विख्यात नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने की सूचना पढ़कर इधर सभी के मन में उन्हें देखने तथा सुनने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी। कश्मीरी जन-समाज के लिए इससे बढ़कर आश्चर्यजनक क्या हो सकता था कि गुरुदेव स्वयं इन अभूतपूर्व सम्मान के प्राप्त होने के उपरान्त कश्मीर पधारें। यहाँ उन दिनों श्री जगदीश चन्द्र चटर्जी सरकारी रिसर्च विभाग के अध्यक्ष थे। उनके नेतृत्व में महाराजा कश्मीर के निर्देशानुसार कश्मीर-शैवदर्शन पर उपलब्ध दुर्लभ पाण्डुलिपियों का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। इनमें से अनेक पुस्तकों की विस्तृत भूमिकाएं चटर्जी महोदय ने स्वयं लिखी हैं। गुरुदेव टैगोर ने चटर्जी महोदय से कश्मीर शैवदर्शन के बारे में गम्भीर अध्ययन और विचार-विमर्श किया होगा। कश्मीर की इस विशिष्ट दार्शनिक परम्परा के प्रति उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं।

''कश्मीर शैवदर्शन जीवन्त विचारधारा की उन गहराइयों में पैठ गया है, जहाँ मानव बुद्धिमत्ता के विविध प्रवाह जाज्वल्यमान समन्वय में एकसूत्र होकर प्रकट होते हैं।''[1]

गुरुदेव की भाव धारा उपनिषदों से अनुप्राणित है और रहस्यवादी कवि को निश्चय ही कश्मीर शैवदर्शन ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेरित किया होगा और इसका प्रभाव उनकी परवर्त्ती काव्य-कृतियों में मिल सकता है।

कवि का प्रकृति प्रेम तो सर्वविदित है ही। 'बलाका' में संकलित अधिकांश कविताएं प्रथम विश्व युद्ध के समय और कुछ एक उससे पूर्व लिखी गयी हैं।''[2] यही वह समय है जबकि कविवर कश्मीर भ्रमणार्थ आये थे। बलाका की पहली कविता ही में वक्र तलवार की भांति झेलम (वितस्ता) के प्रवाह तथा 'देवदारुओं' की कतार का वर्णन करते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के प्रमुख कश्मीरी कवि गुलाम अहमद 'महजूर' और ज़िन्दा कौल 'मास्टर जी' गुरुदेव टैगोर के प्रशंसकों में से थे और बहुत हद तक उनकी भावधारा से प्रेरित थे। 'महजूर' की प्रसिद्ध कविता 'पोशेमति-जानानों' (ओ मेरे फूलों के शहजादे) की गुरुदेव द्वारा प्रशंसा से न केवल कश्मीरी कवि 'महजूर' झूम उठा अपितु वह रुह को फड़काने वाली नित नयी कविताओं को रचने लगा। उपर्युक्त कविता न केवल महजूर के लिए उनकी काव्य यात्रा में 'मील का पत्थर' बन गयी बल्कि कश्मीरी जन समाज में लोकप्रिय भी हो गयी और बीसवीं शताब्दी की चौथी दहाई में कश्मीर के गांव-गांव में लोगों की जुबान पर सुनायी दी। इससे पहले काफी समय तक साहित्य प्रेमी कश्मीरी कविता को उर्दू नज़्मों और गज़लों के समाने बड़ा फीका अनुभव करते थे। महाकवि टैगोर ने महजूर की कविता को क्या पसंद किया और दाद दी कि कश्मीर की आधुनिक काव्य सरंचना के लिए पथ प्रशस्त करने में परोक्ष रूप से प्रेरणा प्रदान की है। 1935 में पुन: 'ग्रीस्य कूर' (कृषक बाला) लिखकर गुरुदेव रबीन्द्रनाथ द्वारा उक्त कविता की प्रशस्ति से महजूर और अधिक उल्लासित हुआ। वह और भी उत्साह और वेग से 'हब्बा खातून' की आत्मा को आधुनिक कश्मीरी कविता के द्वारा नये आयाम प्रदान करने लगा।

आधुनिक कश्मीरी कविता में वर्षों के पतझड़ के बाद नई बहार आने लगी।

कश्मीरी काव्य-कानन में कोयल की कूक सुनायी दी, नये 'गुल' खिलने लगे 'निशात' की महक और 'शालीमार' के फव्वारे कश्मीरी जनमानस को 'जाड़ों' की कटुताओं को भूलने और नव-वसन्त का स्वागत करने के लिए आमंत्रित करने लगे।

1934 में देवेन्द्र सत्यार्थी ने कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित आनन्द कौल बाम्ज़ई की सहायता से महजूर की कविताओं के अंग्रेजी में अनुवाद कराये।[3] मार्च 1935 के Modern Review के अंक में महजूर के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित किया। यह लेख विश्व कवि रबीन्द्रनाथ ठाकुर की नज़र से गुज़रा और वह फड़क उठे। और उन्होंने फरमाया कि ''वाकई कश्मीर शायरी का गहवारा है।''[4]

उसके बाद बलराज साहनी ने 1938 और 1939 से 'त्रैमासिक विश्व-भारती' (अंग्रेज़ी में महजूर के बारे में लेख लिखे।[5] महजूर की प्रारम्भिक कविताओं विशेषकर 'पोशे मति जानानों' और ग्रीस्य कूर' के अंग्रेज़ी अनुवाद पण्डित आनन्द कौल बाम्ज़ई ने 'विश्व भारती' में प्रकाशित किए। इन अनुवादों को पढ़कर महाकवि टैगोर ने महजूर को लिखा-मैने आपकी कविता पढ़ी। आपके मेरे विचार मिलते-जुलते हैं। आप बंगला और अंग्रेज़ी से वाकिफ होते

तो मैं यह कहता कि यह ख्याल आपने मेरी नज़्मों से हासिल किया है। मैं आपकी नज़्म से बहुत खुश हूं।'[6] ग्रीस्य कूर का अनुवाद पढ़कर टैगोर ने दोबारा 'महजूर' को लिखा– 'तुम कश्मीर के वर्डस्वर्थ हो।'[7] जब इन्हीं दिनों महजूर को एक मुशायरे में पहली बार आमन्त्रित किया गया तो वहाँ पर महजूर ने अपनी नज़्म सुनाने से पहले अपने वक्तव्य में कहा–''यह टैगोर के मानव-प्रेम और मानवीय गुणों की परख का ही प्रभाव है कि उन्होंने मात्र एक शब्द कहकर मेरे देशवासियों को मेरे अस्तित्व का आभास दिलाया।''[8]

'महाकवि द्वारा महजूर की काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा से दो लाभ हुए। प्रथम तो कश्मीर वासियों में महजूर के माध्यम से अपनी मातृभाषा में लिखित कविता में रुचि बढ़ी और दूसरे महजूर को अपनी इस आस्था में विश्वास हो गया कि मैं अपनी काव्य-यात्रा के सही मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ।''[9]

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ की काव्य-साधना का प्रत्यक्ष प्रभाव अथवा प्रेरणा को मास्टरजी (जिन्दा कौल) में देखा जा सकता है। वह गुरुदेव रबीन्द्रनाथ के बारे में श्रद्धा और भावुकता से वर्णन करते थे। मास्टरजी की कविता में जो प्रेम से सराबोर हैं, हम 'गीतांजलि' और 'बलाका' की अनुगूँज पाते हैं। दिव्य-प्रेम के प्रतीक से आकर्षित अन्य कवियों की भाँति मास्टरजी वैष्णव-दर्शन से प्रभावित दिखायी देते हैं। यही भावना उन्हें टैगोर की ओर खींच ले गयी।[10] गुरुदेव रबीन्द्रनाथ को मास्टरजी ने स्वयं भी प्रताप कालिज, श्रीनगर तथा पं आनन्द कौल बाम्ज़ई के निवास स्थान पर आयोजित समारोहों पर 'गीतांजलि' से सस्वर-पाठ करते हुए सुना था।

मास्टरजी अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'योर आमुत गिंदने' में शंकराचार्य और बुद्ध की श्रेणी में टैगोर को रखते हुए कहते हैं कि–''राजा (परमात्मा) इस संसार में मनोविनोद के लिए नाना प्रकार के रूप धारण करके आते हैं। कभी वह बुद्ध, शंकराचार्य और टैगोर बनकर आया है। सचमुच ही वह (परमात्मा) मनोंरजन (खेल-तमाशा) करने इस संसार में आया हैं। अपने आनन्द में वह प्रेम और सौंदर्य का रसास्वादन करने के लिए नाचता-झूमता हुआ मोर बनकर आया है। बिना रंग के होते हुए भी वह कभी श्वेत, कभी काला और कभी चितकबरा बनकर आया है आदि-आदि।''[11]

गुरुदेव की 'सोनार तरी' (स्वर्ण नौका) का मास्टरजी की सुप्रसिद्ध कविता 'करनावि तारखना अपोर' (तारले नाविक मुझे भी पार) के साथ एक सुन्दर-साम्य है। मास्टर जी इस कविता में परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह संसार स्वार्थ, छल, कपट और अन्याय एवं अत्याचार से घिरा हुआ है, मेरा मन उस पार नगरी में उतरने को मचल रहा है जहाँ प्रेम और मात्र प्रेम का राज्य है। मास्टर जी की एक और लोकप्रिय कविता है 'ना-तैयॉरी' इस पर भी गीतांजलि का विशेषकर चौथे गीत का स्पष्ट प्रभाव है।

मास्टरजी और महजूर के समकालीन अब्दुल अहद आज़ाद ने अपने ग्रन्थ 'कश्मीरी ज़बान

और शायरी'-भाग 3 पृष्ठ 304-305 पर टैगोर की काव्य प्रतिभा पर एक आलोचक की दृष्टि से अपने विचार व्यक्त किये हैं और बदली परिस्थितियों में काव्य के माध्यम के रूप में बंगला भाषा के नये प्रयोगों की प्रशंसा की है। टैगोर की ही भांति आज़ाद ने भी अपनी कविताओं में आज़ाद दुनिया के स्वप्न देखे हैं वह भी एक ऐसे संसार की परिकल्पना करता है जहां तंग दीवारों से संसार बांटा न गया हो।[12] यहां पर यह बात द्रष्टव्य है कि आज़ाद की क्रान्तिकारी विचारधारा पर महान विचारक एम.एन. राय का प्रत्यक्ष प्रभाव है और एम.एन. राय भी गुरुदेव के काव्य वैभव से परोक्ष रूप से प्रभावित हैं।

महजूर, मास्टरजी और आज़ाद के त्रिवेणी संगम की परिणति को हम देखते हैं दीनानाथ 'नादिम' में। वह एक वटवृक्ष के रूप में उभर आये स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्। चार दशकों में कश्मीरी भाषा और साहित्य के उन्नयन में उनका योगदान बहुमूल्य है। डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' के शब्दों में उनके काव्य में हिमालय की उदात्तता, देवदारू की उन्मुक्तता और केसर की कमनीयता का अद्‌भुत समन्वय है। ऊंचे दर्जे के इस मानवतावादी और सहृदय कवि के बारे में डा० प्रभाकर माचवे का विचार है कि वे रोमाण्टिक रेवोल्यूशनरी स्वच्छन्द कवि हैं, जिन्होंने कविता को जनोन्मुख बनाया।

नादिम स्वयं कहते हैं 1948 तक नि:सन्देह मुझ पर टैगोर का अत्यधिक प्रभाव रहा है उसके बाद मैं माईकोस्वाकी की ओर झुक गया। 1948 से पूर्व की मेरी कविताओं में टैगोर का रहस्यवाद स्पष्ट रूप से झलकता है। मैं तो बचपन से ही टैगोर भक्त रहा हूँ उनको पूजता रहा हूँ। सन 30 के आस-पास जब गीतांजलि मेरे हाथ लगी तो वह मेरे दिल की गहराइयों में समा गयी। मैं डब्ल्यू बी की तरह टैगोर का फैन बन गया और दिन-रात गीतांजलि को थामे रहता था। नादिम को गुरुदेव ने हिन्दू हाई स्कूल श्रीनगर की स्थापना के अवसर पर जो शुभकामनाओं का पत्र भेजा था वह उनके पास सुरक्षित था।

नादिम ने प्रारम्भ में कश्मीरी के साथ-साथ उर्दू और हिन्दी में भी काव्य रचना की है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में गुरुदेव की भावधारा की स्पष्ट छाप है- कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं-

''मन सरिता को चूम रहे हैं आशा के दो घाट।
पूजा के कारण खोले हैं हृदय मन्दिर के पाट।
रोम-रोम में इष्ट देव हैं किसकी जोहूं बाट।।

प्रियतमा की आशा में बाट जोहते हुए उससे गिले-शिकवे करते हुए कवि कहता है कि आओ मेरे देवता मैं तुम्हें संसार का हाल वर्णन करूं आओ दिखाऊं अपनी दुनिया की हालत-

वलो दय अज़ब ज़गतुक हाल बावय।

यि गोमुत आलमस चॉनिस ति हावय।

खसुन गुर तय वसॅन्य नावाह छि केंचन।

त केंचन मोटरस मंज़ आव आवय।।

एक और गीत में प्रेम से संबोधित होकर कवि नादिम कहता है–

आओ दिखाऊं तुम्हें आज कैसे बाग का कारवां जा रहा है और सुनाऊं आज तुम्हें नया तराना। शृंगमालाओं के स्तनों में से दूध जब छलकने के लिए बेकरार होने लगा तो लो देखो कोंपलों ने अपने मासूम मुंह खोल दिये। गुललालों ने दीप जला कर रात-भर फूलों को अपने सीने के दाग़ दिखाये।

वलो अश्को वनज अज़ नोव तरानय

पकान किथॅ कॅन्य बागुंक कारवानय

संगर मालन दोदस सॅसर लॅज्य

मुच़र्य टूर्यव पननिय मोस'म दहानय

गुलालव च़ोंग ज़ॉलिथ रॉत्य रातस

गुलन हॉव्य नारॅ तत्यन हॅन्द्य निशानय।।

प्रियतम के आने की सूचना मिली है और मैं उनके स्वागत के लिए तैयार नहीं इस भाव का मार्मिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है ''उनके आने की खबर से मैं थर्रा उठा हूँ, मेरा रोयां-रोयां पसीने से तर हो गया है मेरी हालत मेरे प्यार को दोषी न बनाये यह भय मुझे अन्दर-ही-अन्दर खाये जा रहा है।''

'कल म्य गनेयम यछ़ तम्बलेयम

पुचनुन पॅच्छय ह्यत पान वॅ क्वाह करॅ

वछि वोलिज ताम होलस तर द्राम

दोपहम यूर्य छु यिवान म्यु वॅछ़ थर्र थॅर

रुम रुम गोम गुम स्राण बॅ क्याह करॅ

पारॅद्य ज़न गोम प्राण बॅ क्याह करॅ

लोलस खसि मा हान बॅ क्याह करॅ

ऐसी ही उनकी एक और कविता उल्लेखनीय है– मचि़ मसवलि प्योम मोरली नाव'।

टैगोर की काव्य प्रतिभा से प्रभावित एक और उल्लेखनीय कवि हैं। 'फाजिल-कश्मीरी'। उनकी आरम्भिक कविताएं 'क्राल-कूर' आदि इस कोटि में आती है। फाजिल की विश्व बन्धुत्व

तथा सर्व धर्म समभाव की भावना से ओत-प्रोत कविताओं पर महाकवि के प्रभाव की झलक यत्र-तत्र मिलती है। उन्होंने भी गुरुदेव के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है-अपनी एक कश्मीरी कविता में।

पीताम्बर नाथ फानी के कश्मीरी काव्य संग्रह हुबाब में भी महाकवि की भावधारा के संकेत उपलब्ध हैं।

गद्य में कुछ हद तक खोखुस नामक कहानी दीपक कौल कृत में टैगोर का प्रभाव देखा जाता है। इधर टैगोर जन्म शताब्दी के अवसर पर गुरुदेव की अनेक कृतियों के अनुवाद हुए और साथ-साथ उनके काव्य वैभव और नाट्य शिल्प पर अनेक कश्मीरी विद्वानों ने पुस्तकें लिखीं और समीक्षात्मक लेख लिखे। यह लेख कश्मीरी भाषा के अतिरिक्त उर्दू-अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में भी लिखे गये।

द जीनियस ऑफ टैगोर प्रो० जय कौल की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। प्रो० महीयुद्दीन हाजिनी कश्मीरी भाषा के एक मूर्धन्य आलोचक और लेखक हैं उन्होंने ''टैगोर बहसियत अख ड्रामा निगार'' शीर्षक से कश्मीरी भाषा में एक विस्तृत समीक्षात्मक आलेख लिखा है। वह निबंध उनकी साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'मकालात' में भी संकलित है।

बंसी निर्दोष ने कौमी शायर का कश्मीरी अनुवाद 'कौमुक शॉयिर' प्रकाशित किया है।

'गीतांजलि की अधिकांश कविताओं के प्रमाणिक कश्मीरी पद्यानुवाद करने वालों में अग्रगण्य हैं युगकवि दीनानाथ नादिम। उन्होंने लगभग 40 से 50 तक गीत अनूदित किये हैं। इसी प्रकार 'एकोत्तर शती' के तीन गीतों का सुन्दर काव्यानुवाद किया है। इनमें 'वसुन्धरा' को लोकप्रियता प्राप्त हुई। समय के बन्धन ने नादिम को अकादमी के लिए गीतांजलि' का संपूर्ण अनुवाद तैयार करके प्रकाशित होने से वंचित किया। लेकिन दो अन्य कश्मीरी कवियों सर्वानन्द कौल 'प्रेमी' तथा मोती लाल नाज ने गीतांजलि के दो अलग-अलग पद्यानुवाद प्रकाशित किये हैं। प्रेमी के अनुवाद के बारे में विद्वान समीक्षक पं० जियालाल नाजिर ने लिखा है-प्रेमी ने टैगोर के गीतों की आत्मा को पहचाना है और टैगोर की भाव धारा में डुबकी लगाकर रसीली कश्मीरी भाषा में अनुवाद करने का साहस किया है।[13] इसी प्रकार मोतीलाल 'नाज' के पद्यानुवाद के बारे में विख्यात चित्रकार-कवि जी.आर. सन्तोष ने लिखा है-नाज द्वारा गीतांजलि का कश्मीरी पद्यानुवाद पढ़कर मुझे नहीं लगता कि मैं अनुवाद पढ़ रहा हूं।[14]

टैगोर के नाटकों में सबसे पहले 'राजॅ तॅ रान्य'-अनुवादक अमीन कामिल प्रकाशित हुआ। यह नाटक किसी भाषा से कश्मीरी में अनूदित होने वाला सम्भवत: पहला नाटक है। इसके अतिरिक्त चोखोर बली उपन्यास का अनुवाद 'अॅछय किटुर' नाम से प्रकाशित हुआ। इसे कश्मीरी में प्रो० पी. एन. पुष्प ने अनूदित किया। फिर डाकघर, मुक्तधारा और रक्तकर्वी के कश्मीरी अनुवाद त्रे नाटक शीर्षक से प्रकाशित हुए। इनका अनुवाद क्रमश: सर्वश्री अमीन कामिल, अली मुहम्मद लोन तथा नूर मुहम्मद रोशन ने किये। कश्मीरी अनुवाद 'सोन्तुक

अतगथ' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके अनुवादक हैं मिर्जा आरिफ। चंडालिका का चंडालक नाम से नूर मुहम्मद रोशन ने अनुवाद किया है।

नन्दलाल अम्बारदार, दीनानाथ 'अलमस्त', मोतीलाल साकी, मुज़फर आजिम, चमनलाल चमन भी गुरुदेव टैगोर के काव्य वैभव से प्रभावित हैं।

मोतीलाल साकी की 'रुबाइयों' पर उपनिषदों तथा गीतांजलि के गीतों का स्पष्ट प्रभाव है। मोतीलाल साकी, चमनलाल चमन और मज़फ़्फ़र आज़िम ने भी टैगोर के चुने हुए गीतों का बड़ा ही सफल पद्यानुवाद किया है। 'साकी' का एक विद्वतापूर्ण कश्मीरी 'लेख-टैगोर अख हमगीर शख्सियत' साप्ताहिक चमन में प्रकाशित हुआ है। इन्होंने 'बलिदान' नाटक का भी कश्मीरी में अनुवाद किया है जो अप्रकाशित है।

1961 में जब गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की जन्म शताब्दी समारोह अन्य स्थानों की भांति कश्मीर में भी सम्पन्न हुए तो कश्मीर का सांस्कृतिक जीवन टैगोरमय हो गया था। केन्द्रीय सरकार के अनुदान से कश्मीरी जनमानस को 'टैगोर-हाल' के रूप में जो अनुपम भेंट मिली वह वहाँ सांस्कृतिक नवोत्थान के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थल अब भी बना हुआ है। जन्म शताब्दी समारोहों के अवसर पर टैगोर के अनेक नाटकों का मंचन हुआ, विचार संगोष्ठियां हुई, निबन्ध प्रतियोगिताओं के आयोजन हुए, चित्र प्रदर्शनियां हुईं और चित्रकला प्रतियोगिताओं के आयोजन हुए। इस प्रकार गुरुदेव रबीन्द्रनाथ कश्मीरी सांस्कृतिक नवोत्थान के प्रेरक बने।

शेख साहिब के विचार

कुछ समय पूर्व शेख मुहम्मद अब्दुल्ला की आत्मकथा 'आतश-इ-चिनार' का प्रकाशन हुआ है। कविवर रबीन्द्रनाथ ठाकुर का वर्णन करते हुए 'मुकदमा-साजिश' अध्याय के अंतर्गत पृष्ठ 731-733 पर लिखते हैं-''उन्हीं दिनों का एक और वाका मेरे जेहन में ताजा है। मेरी सालगिरह के दिन मुझे मिस मृदुला साराबाई की तरफ से मुबारिकबाद का एक खत मौसूल (प्राप्त) हुआ। उन्होंने रबीन्द्रनाथ टैगोर की एक नज़्म भेजी थी। नज़्म मेरे हालात और मेरी जेहनी कैफियत (मनोभाव) का दैविक, प्रतिनिधित्व करती थी कि मैं उसको पढ़कर फड़क उठा। मुझे ऐसा लगा कि जैसे खुद रबीन्द्रनाथ ने मेरी रूह में बैठकर यह नज़्म कलमबन्द की है।'' शायद यही वह शायराना एजाज़ है जिसकी तरफ गालिब ने इशारा करते हुए कहा है कि-

देखना तकरीर की लज़त कि जरे उसने कहा।
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।।

नज़्म इतनी जोरदार और स्थायी लाभ की हामिल है कि मैं उसका उर्दू तर्जुमा दर्ज करना एक खुशगवार फरोज़ा कर्त्तव्य मानता हूँ। नज़्म का अनवान था। 'अकेले चलो रे (एकला चलो रे)।

1. "Kashmir Saivisim has penetrated to that depth of living thought where diverse currents of human wisdom unite in a luminous synthesis". Rabinder Nath Tagore

   From "An Introductory view of Kashmir Saivisim" K.L. Swaroop, published in SARADAVol II published by Sri Rama Krishna Ashrama, Srinager 1984-95 Page 44

2. A Flight of Swans Tr. by Aurobindo Bose
3. कश्मीरी जबान और शायरी, खण्ड-3, लेखक अब्दुल अहद 'आज़ाद'
4. दैनिक 'मार्त्तण्ड' उर्दू 20 माघ 1991 वि.
5. कश्मीरी जबान और शायरी, खण्ड-3, ले. अ.अ. आज़ाद पृ. 286
6. 'तामीर' मासिक महजूर नम्बर
7. कश्मीरी जब्रान और शायरी, खण्ड-3, पृ. 287
8. कश्मीरी जबान और शायरी, खण्ड-3, पृ. 287
9. कश्मीरी जबान और शायरी, खण्ड-3, पृ. 288
10. प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प
11. डॉ० वी एस. नरवणे
12. राज पनने दीशि द्रामुत, योर आमुत गिंदने।
    नच़नस ज़न मोर आमुत, योर आमुत गिंदने।
13. रंग रोस्त आ सिथ खौतुस मा रंग लागिथ नकशि पुछ़य।
    छ्वौत कहुन तय होर आमुत, योर आमुत गिंदने।
    कुनि सुयि टैगोर आमुत, शंकराचार्य त' बुद्ध
    कुनि असि ह्यू चोर आमुत, योर आमुत गिंदने।।
14. प्रो० पी० एन० पुष्प

❖❖❖

* *सम्पर्क : द्वारा/13-बी, ई-3, शताब्दी विहार, सेक्टर-52, नोएडा 201307, मो०-09871481177*

महात्मा गांधी जी टैगोर जी के साथ वार्तालाप करते हुए

टैगोर : भारतीयता और समाज चित्रण

❑ प्रो० राजकुमार

नोबल पुरस्कार विजेता रबीन्द्रनाथ टैगोर का साहित्य-सृजन भारतीय नवजागरण काल से आरम्भ होता है। टैगोर ब्रह्मसमाज से प्रभावित रहे हैं। 'गीतांजलि में उन्होंने 1901 ई० से 1912 ई० तक लिखी अपनी गीतियों को संकलित किया है, ये गीतियां मूलतया बंगला में लिखी गई, जिनका अंग्रेज़ी अनुवाद स्वयं रबीन्द्रनाथ ने किया यह अनुवाद गीति से गद्य में हुआ है परन्तु अनुवाद में उनकी भावनाओं का सौंदर्य काव्यात्मक ही रहा है। टैगोर के इस अनुवंाद ने कई कवियों आलोचकों को प्रभावित किया है इस अनुवाद के प्रति डब्लयु बी. यीट्स ने लिखा है, "Though these prose translations from Rabindernath tagore have stirred my blood as nothing has for years, I shall not know anything of his life, and of the movements of thought, that have made them possible."

दूर कहीं इंग्लैण्ड में बैठा किसी अन्य भाषा का कवि, आलोचक किसी की रचनाओं से इतना आंदोलित होता है तो निश्चय ही रचना का मूल्य बहुत ऊंचा हो ज़ाता है, वैसे टैगोर की ये गीतियां बंगाल से वर्मा तक धूम मचाती रही थीं।

इनकी ऐसी लोकप्रियता का कारण है- रचनाओं की लोक-अनुभूति और लोक-चेतना से जुड़ाव। भारतीय लोक-चेतना सदियों से सर्वधर्म समभाव में विश्वास करती रही है, वहां हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई का भेदभाव नहीं है। यदि यह भेदभाव होता तो समूचा भारतीय जनमानस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ न उठ खड़ा होता। इस लोक-चेतना को रबीन्द्रनाथ टैगोर की गीतियों और गद्य साहित्य में दोहरा बल मिला है। यह लोक-चेतना, लोक-अनुभूति निर्गुणवादी कवियों से सर्वधर्म समभाव के रूप में भारतीय काव्य में स्वरूप धारण करती है, जो सगुण भक्तिधारा से और सूफी साधकों की प्रेम धारा से रूपक ग्रहण करती हुई ब्रह्मसमाज की नवजागरण कालीन चेतना का सम्पर्क पाकर आधुनिक रहस्यवादी हो उठी है।

टैगोर ने इस आधुनिक भावभूमि निर्गुणवादी को लोक-चेतना और लोक-अनुभूति से विकसित किया है। जब हम भारतीय काव्य की निर्गुण काव्यधारा की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि कबीर की कविता का रहस्यवाद बहुत ऊंची कोटि का है इस दृष्टि से रहस्यवाद को सगुण रूपक प्रदान करने में जायसी का योगदान भी कम नहीं। इन दोनों कवियों के काव्य से जिस मिस्टसिज़्म का विकास हुआ है रबीन्द्रनाथ टैगोर के काव्य में वह भारतीयता बन जाता

है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से ज्यों-का-त्यों सहमत नहीं हुआ जा सकता कि बंगाल में मिस्टिसिज़्म फ्रांस से आया, बल्कि यह कहना ही उचित होगा कि फ्रांस के मिस्टिसिज़्म के आने से पूर्व ही भारतीय कवियों और साधकों की रहस्यवादी अनुभूतियां कविता में स्वरूप ग्रहण कर रही थीं। भारतीय निर्गुण कवियों की वाणी को सर्वप्रथम गुरुग्रन्थ साहिब में संकलित किया गया है, जिसमें गुरु साहिबान का दृष्टिकोण धार्मिक, सामाजिक समभाव स्थापित करने का है, यही दृष्टिकोण उस काल की भारतीयता थी, टैगोर ने वहीं से कबीर को लिया था, साथ ही भारतीयता को भी टैगोर ने ही सर्वप्रथम कबीर काव्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। भारतीयता में निर्गुण और सगुण भावधाराएँ नाखुन और मांस की तरह परस्पर गुंथी हुई हैं, कबीर, जायसी आदि की भावभूमि ही आधुनिक भारतीयता को स्वरूप देती प्रतीत होती है, टैगोर इस भावभूमि का प्रस्तोता है और इसी भारतीयता को गीतांजलि के माध्यम से पुरस्कृत किया गया है।

सितम्बर 1912 ई० में यीट्स ने गीतांजलि का परिचय (Introduction) लिखा, पुस्तक 1913 ई. में प्रकाशित हुई और अंग्रेज़ी में प्रकाशित होकर संसार के साहित्यिक क्षेत्र में उसने धूम मचा दी, जो थोड़ी बहुत कसर रह गई थी उसकी पूर्ति नोबल पुरस्कार ने कर दी। इस पुरस्कार के लिए बनी चयन समिति में W.B. yeats स्वयं एक सदस्य थे, वह पुरस्कार भारतीयता को सम्मानित करते हुए दिया गया। यह वह भारतीयता है जो 1912 ई० तक देश में विकसित हो चुकी थी। 'गीतांजलि' की प्रस्तावना लिखते हुए WB yeats ने लिखा है। "In this sonq of ferings Tagore uses modernized images from classical Indian Love poetry to symbolize his yearning to merge with the supereme. So the mind stained traveller, the parched summar earth, the bride awaiting the return of her lord, the first monsoon shower the flowers, the riners and the couch are images which gain a smystical depth in these poems."

यहाँ यीट्स ने 'गीतांजलि' की न केवल काव्य भाषा, उसके बिम्ब-विधान और रूपक तत्त्वों को ही विश्लेषित किया है; उसमें व्यक्त रहस्यवाद और छायावादी, प्रेम-शृंगार आदि की ओर भी संकेत किया है और गीतियों के लिए कथ्य की ओर संकेत किया है, वही भारतीयता है, जो टैगोर के सृजन काल में बंगला साहित्य में काफी उत्थान पर थी और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी, रबीन्द्रनाथ टैगोर के पुरस्कृत होते ही, उनसे प्रभावित हो रहे साहित्यकारों के लेखन में आने लगी।

यदि हिन्दी साहित्य पर निगाह डाली जाए तो 1912 ई० तक द्विवेदी काल में भारतेन्दु कालीन बृज भाषा का स्थान खड़ी बोली ले चुकी थी। वह खड़ी बोली हिन्दी का शैशव काल था, जिसमें साहित्यिक भाषा, साहित्यिक रूप और साहित्यिक कथ्य (content) अभी स्थिर नहीं हुआ था, भक्ति, रीति, नीति और तथा आधुनिकता परस्पर गुत्थम-गुत्था हो रही थीं, जब टैगोर के साहित्य का प्रभाव हिन्दी लेखकों पर पड़ा। ज़ब 1901 ई० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का संपादन आरम्भ किया और हिन्दी भाषा का साहित्यिक रूप स्थिर करने

का यत्न आरम्भ किया तब तक बंगला भाषा का साहित्य काफी उन्नति कर चुका था।

कविता के अतिरिक्त ग्रंथ की अनेक विधाएं उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक-सभी उन्नति के उच्च शिखरों पर पहुंची हुई थीं। गुरुदेव को भी ये सभी विधाएं उन्नत रूप में मिलीं, टैगोर ने इन विधाओं के साहित्य में ब्रह्मसमाज में प्राप्त सामाजिकता, धार्मिकता और भारतीयता में जुड़ा कथ्य अनुस्यूत किया, इसी कथ्य ने हिन्दी के साहित्य जगत को विशेष रूप से प्रभावित किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने टैगोर के विचारों को विशेष कर उपेक्षिता उर्मिला के प्रति अनूदित रूप में 'सरस्वती' में प्रकाशित किया तो हिन्दी साहित्य में नारी उद्धार की भावना बलवती हो उठी उर्मिला, यशोधरा, कैकेयी, विष्णुप्रिया, राधा, श्रद्धा आदि हिन्दी की कविता के केन्द्र में आ गईं। बंगला साहित्य विशेषकर गीतांजलि का प्रभाव हिन्दी लेखकों पर पड़ा तो उनकी द्विवेदी युगीन काव्य-भाषा में छायावादी, रहस्यवादी अलंकार बढ़ गया और अनुभूति आध्यात्मिक हो-न-हो काव्य भाषा का बिम्ब-विधान और रूपक-विधान बदल गया जिसमें स्थूल चित्रण की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता आ गई और अदेखे के प्रति बढ़ी जिज्ञासा काव्य में ढलने लगी। टैगोर ने जिस निर्गुण तत्त्व को भारतीयता के आवरण में प्रस्तुत किया था कुछ-कुछ वैसी ही भारतीयता रहस्यता भी छायावादी साहित्य में मिल जाती है।

टैगोर अपने समय के उभर रहे समाज को भी देख रहे थे। भारतीय विशेष कर बंगला समाज में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग का विकास होने लगा था। यह बुद्धिजीवी वर्ग ब्रिटिश कम्पनी की व्यापारिक बुद्धि की अपेक्षा अपने सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान के साथ-साथ व्यक्ति की जागरूकता के प्रति सोचने लगा था, उसकी यह सोच भावनात्मक न होकर विचारात्मक थी, जो ब्रह्मसमाज की गोष्ठियों में पनप रही थी। ब्रह्मसमाज ने भारतीय धर्म और संस्कृति का अंग्रेज़ व्यापारियों के विरुद्ध अनुकूलन किया। इन्हीं गोष्ठियों में सामाजिक संस्थाओं के व्यक्ति से जुड़ने वाले रिश्तों पर चर्चा होने लगी थी, बंगाली समाज प्रबुद्ध होने लगा था, नेताओं के भाषाणों और अखबारों के बुद्धिजीवी वर्ग के पनपने में विशेष योगदान दिया और अखबारों के माध्यम से गद्य विधाएं अपना रूप अख्तियार करने लगी।

ग्रंथ आधुनिकता की देन है भारत में आधुनिकता अंग्रेज़ों के कम्पनी राज्य के आने से आई, सबसे पहले बंगाल में प्लासी और बक्सर के युद्धों के साथ-साथ। इससे एक ऐसी बाज़ारवादी संस्कृति का विकास हुआ, जिसमें आध्यात्मिकता से जुड़ा चिंतन नहीं था बल्कि अधिक-से-अधिक लाभ कमाने अधिक-से-अधिक लोगों को अपने लाभ के लिए काम पर लगाने के लिए चिन्तन होता था। कम्पनी बहादुर की अपनी परिषदों में इसी बाज़ारवादी व्यवस्था के निर्माण और विकास पर चिंतन होता था इन परिषदों में धन-सम्पदा को उगाहने के लिए भिन्न-भिन्न चालों को चला जाता था। यहाँ भावनाओं का नहीं अपितु चिन्तन शक्ति विशेषकर चालाक चिंतन का महत्त्व था, आधुनिकता के नाम पर यही चालाक चिंतन काम कर रहा था। बंगाल में जो नया बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हुआ वह ऐसे ही चालाक चिंतन के मूलतत्त्व को समझने लगा, जिसके विरुद्ध उसने सामाजिक-सांस्कृतिक उत्थान को अपने चिंतन का मूलतत्त्व निर्धारित

कर ग्रंथ लिखना आरम्भ किया।

इंग्लैण्ड और अन्य औद्योगिक देशों में गांवों से शहरों की ओर वृहद स्तर पर विस्थापन तो नहीं पर संक्रमण हुआ, रोज़ी-रोटी के लिए लोग नौकरी की तलाश करने लगे तो गांवों के लोगों में गांवों की संस्कृति के प्रति भावनात्मक लगाव खत्म हो गया, उसकी जगह शहरी जीवन के सपनों ने ले ली। 19वीं 20वीं शताब्दी के दिन-प्रति-दिन ऐसे योरोपीयन देशों में हो रहे औद्योगीकरण और उत्पादित वस्तुओं के व्यापार के लिए बाज़ार की खोज़ शुरू हुई। यह बाज़ारवाद पूंजीवादी साम्राज्यों की रीढ़ बना, ऐसे ही बाज़ार की खोज में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत आई और बाज़ारवादी चालाक चिंतन के बल पर भारत में शासक बनती गई। 18वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बंगाल में जहां-जहां प्रभुत्व बढ़ा वहां-वहां बाज़ारवादी आधुनिकतावादी सेवा-समझ बढ़ती गई लोग नौकरी और बाज़ार की तलाश में अध्यात्म और धर्म-चिंता को छोड़ अर्थ तंत्र खड़ा करने की चिंता करते हुए भाग-दौड़ करने में जुट गए। 1857 ई० के बाद कम्पनी राज द्वारा जमाए गए प्रभुत्व में अधिक स्थिरता आई पार्लियामैण्ट के चार्टर ने भारत में ब्रिटिश बाज़ार को अधिक विस्तार दिया और कच्चे माल के लिए कम्पनी ने भारतीय कृषकों के शोषण के जो हत्थकण्डे अपना रखे थे उन्हें संवैधानिक रूप मिल गया और भारतीय जनता के शोषण की गति अधिक तीव्र हो गई।

बंगाल में राजा राममोहन राय ने स्वयं अनेक धर्मों में बारी-बारी से दीक्षा ग्रहण की और उन वर्गों को धर्म चिंता की गहराई तक समझा उसके खोखलेपन को समझ लिया, उसी ने सर्वप्रथम अखबार निकाला कोर्ट में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए मुकद्दमा लड़ा और जीता। अखबार में विचार-अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बना, अखबारों से लेखक पैदा हुए, कवि और निबन्धकार भी, कहानीकार और स्तम्भकार भी, सम्पादक भी और बुद्धिजीवी वर्ग तैयार होने लगा जिसने साधारणजन को जागृत करना आरम्भ किया।

टैगोर का पूर्वज-परिवार अपने समय का बंगाल का महत्त्वपूर्ण बुद्धिजीवी परिवार था, जिसकी विस्तृत पुश्तैनी जमींदारी या यह जमींदारी उस परिवार की दैनिक जीवन की सुख-सुविधा जुटाती थी और परिवार के सदस्यों को अपने समाज को देखने के लिए उसे समझने के लिए और उस के प्रति सोचने के लिए काफी समय दे देती थी। स्वामी विवेकानन्द जी ने ठीक कहा है कि पहले व्यक्ति को पेट भरने की सुविधा दो, फिर देखो, वह स्वयं ही अपने धर्म और समाज के प्रति सोचने लगेगा। टैगोर के परिवार में संभवतः जमींदारी से मिली सुख-सुविधाओं और प्रभुत्व के कारण पेट की चिंताओं की अपेक्षा जन-जन की चिंताओं को समझने और उन्हें व्यक्त करने का काफी अवसर मिला, जिससे टैगोर परिवार कलाकारों, दार्शनिकों, समाज सुधारकों, संगीतज्ञों, नृत्यकारों और नाटककारों तथा साहित्यकारों का परिवार बना। रबीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने खेतों में काम करते कृषकों और अन्य काम करते हुए जन-जन की मानसिकता को समझा और अपनी गीतियों, नाटकों, कहानी, उपन्यासों में इन लोगों की मानसिकता को अभिव्यक्ति दी, टैगोर का संवेदनशील मन जन-गण-मन की पीड़ा उसके

हास्य-रुदन, उसकी चिंता-आकांक्षा, उसके सुख-दुख को पकड़ता और अभिव्यक्त करता रहा। टैगोर की कथा साहित्य में ऐसे समाज को अभिव्यक्ति मिली है जो रोजी-रोटी की चिंता से जूझ रहा है, परन्तु उन पात्रों को देख-समझ कर व्यक्त करने वाला नरेटर (स्वयं लेखक) रोजी रोटी की चिंता से ऊपर उठ कर गंभीर मानव मूल्यों को उन्हीं कृषकों, कामगारों में ढूंढ़ रहा है। टैगोर का यह पात्र संस्कार के धरातल पर जागरूक है, परिस्थितियों में विवश है और उसका व्यवहार परिस्थिति जन्य ही है, संस्कार और हृदय से वह उस भारतीयता को पकड़े हुए है जो नवजागरण काल में ब्रिटिश राज्य के खिलाफ रूप ग्रहण कर रहा था।

रबीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों का पात्र संसार बड़ा विस्तृत है जो तत्कालीन बहुरंगी तथा बहुस्तरीय, बहुवर्गीय समाज के अंतश्चेतन और बाह्य व्यवहारिक जीवन को व्यक्त करता है, यहाँ राजा-महाराजा भी हैं, सेनापति भी हैं, सैनिक भी हैं, कृषक भी हैं जो सामंतीकाल की वेशभूषा में होते हुए भी आधुनिक हैं, आधुनिक भारतीयता और संस्कार के धरातल पर सुदृढ़ मूल्य बोध को रूप प्रदान कर रहे हैं। यहाँ छकड़े वाले भी हैं, पोस्टमास्टर भी हैं, कचहरी के कारिन्दे भी हैं, वकील भी, जज भी, लालची भी, कंजूस भी, तंत्र-मंत्र की आड़ में साजिश कर्ता भी और छोटे फेरी वाले भी हैं, काबुलीवाले विदेशी पठान भी, यहाँ साजिश कर्ता पति भी हैं और साजिश को समझने-बूझने वाले भी, पति का सुख बाँटने वाली पत्नियां भी हैं। ये सभी पात्र भारतीय लोकचेतना और मानवीयता की विभिन्न छवियों को प्रस्तुत करते हैं। टैगोर ने भारतीय स्त्री का बड़ी खूबी से मनोविश्लेषण किया है टैगोर की कहानियां हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की कहानियों के होते हुए भी स्त्री मन के चित्रण और विश्लेषण की पूर्व पीठिका बनी हैं, इनकी कहानी 'सजा' में जिस स्त्री का चरित्र-निर्मित हुआ, वह पत्नी चरित्र अनेक लेखकों की कहानियों में अनुभव किया जा सकता है। इन की कहानियों के पात्रों की वेशभूषा और रहन-सहन बेशक उन्हें देश-देशान्तर से आया दिखाते हैं पर उनकी मानसिकता भारतीय है, जिनमें नैसर्गिक वृत्तियों का बड़ी कुशलता सहित भारतीयकरण हुआ है, जो मानववाद सर्व धर्म समभाव और उदात्त मानव के जीवन मूल्यों को अपने में ढाल लेने की प्रेरणा देता है। एक तथ्य यह भी कि इनकी कहानियों के पात्रों का मनोबोध किसी वाद की घेरेबन्दी में विकसित न होकर स्थिति विशेष में हृदय की सहज प्राकृत प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। ये कहानियां केवल वृत्तान्त नहीं हैं बल्कि भारतीय संस्कृति के किसी उदात्त मूल्य को उद्घाटित करती हैं और आधुनिक प्रासंगिकता से जुड़ी हुई हैं। इनका प्रभाव बहुत तीखा और गहरा है क्योंकि यहाँ कल्पना यथार्थ की भूमि से उपजती है और संयमित रह कर प्रभाव को एकान्वित बनाए रखती है। ये कहानियां इकहरी कहानियां हैं, कहानी के बीच कहानी जोड़ने की प्रवृत्ति इन कहानियों में नहीं है। ये कहानियां गद्यात्मक हैं, किसी काव्य-भाषा में नहीं लिखी गई और काव्यात्मकता की झोंक में अपनी पहचान नहीं गंवाती। इन कहानियों में जिस भारतीयता का मूर्तिकरण हुआ है वह समूचे भारतीय जीवन में बोलता है जो जातिगत, धर्मगत, लिंगगत भेदभाव की अपेक्षा समभाव, समानता और मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करता है।

टैगोरकालीन भारतीयता का चित्रण और टैगोर की भारतीयता सम्बंधी चिन्ताओं को समझने के लिए अधिक विस्तार में न जाते हुए निवेदन करूंगा कि पाठक उनकी अग्रलिखित कहानियों का पठन करें-पारसमणि, बलिदानी राजा, अंतिम शिक्षा, बंदा बैरागी, दुराशा, धन की भेंट, छुट्टी आदि।

कहानी दुराशा में 1857 ई० में कम्पनी बहादुर के विरुद्ध लड़ रहे हिन्दू केशरलाल के प्रति नवाब की बेटी के प्रेम और श्रद्धा को धर्म और देश के प्रति नाम पर बलि चढ़ते दिखाया गया है। अड़तीस वर्ष से केशरलाल को ढूंढ़ती हुई मुस्लिम पात्रा तन-मन संस्कार से ब्राह्मण बन जाती है परन्तु केशरलाल परिस्थितियों में विवश ब्राह्मणत्व छोड़ कर भोटिया स्त्री के साथ रहता हुआ मैला-कुचैला भोट ही बन कर रह जाता है। उसे देख कर नायिका अपनी व्यथा व्यक्त करती है जिस ब्राह्मण ने किशोर मन को हर लिया था, मैं क्या जानती थी कि वह सिर्फ अभ्यास या संस्कार था। मैं समझती थी वह धर्म था, अनादि अनंत था हाय ब्राह्मण ! तुमने तो अपने अभ्यास के बजाए एक और एक अभ्यास (भोटिया आवरण) ग्रहण कर लिया है, मैं अपने उस यौवन, उस जीवन के बदले दूसरा जीवन, यौवन कहां प्राप्त करूंगी।'' इस कहानी में टैगोर ने सांझी संस्कृति के विकास को बहुत अच्छी तरह पिरोया है।

धन की भेंट, में वृन्दावन कुण्ड की कंजूसी और मित्त व्ययता का चित्रण हुआ है वृन्दावन लाल कुण्ड इतना भर कंजूस है कि बहू का इलाज तक नहीं करवाता, बेटा विद्रोही हो कर घर त्याग देता है तो वह अपने पोते पर होने वाले खर्च की बचत का हिसाब लगाता रहता है। अंततः अकेला पड़ जाने के भय से बचने के लिए नितईपाल नामक बच्चों को धन भेंट करने का लालच देकर धन के साथ ही तहखाने में छोड़कर तहखाने का मुख पत्थर से बंद कर देता है। जब उसे तहखाने में छोड़े गए बच्चे की वास्तविकता का पता चलता है तो उस का अंतश्चेतन उसे धिक्कारता है पर वह उसे भी झुठला देता है और पागल हो जाता है। इस प्रकार कंजूसी उसे बहू-बेटे के सुख से वंचित कर देती है और उसे अपने ही पौत्र का हत्यारा बना देती है। टैगोर ने इस पागल हो चुके कंजूस व्यक्ति के अंतश्चेतन का बड़ी कुशलता से चित्रण किया है।

छुट्टी (Home coming) कहानी में गरीब के बेटे फटिक के व्यक्तित्व के विकास में आने वाले अवरोधक तत्त्व उसकी भाभी के चरित्र के बहाने ईर्ष्यालु और सगे बेटों की अपेक्षा अन्य किसी बच्चे से स्नेह, सम्मान या रिश्ता न रखने वाली स्त्री का चित्रण किया है। ''क्यों जी, पराये लड़के के लिए क्यों जान मुसीबत में डाले हुए हो अब इसको घर क्यों नही पहुँचा देते।'' फटिक की सगी मामी के इस व्यवहार के कारण ही बच्चा घर से भाग गया था और बुखार में तप रहा है, फटिक के अन्तश्चेतन का टैगोर ने बड़ी खूबसूरती से चित्रण किया है। और समाज में व्यक्तिवादी सुख के लिए सभी रिश्ते-नाते और मानवीयता को तिलांजलि देकर क्रूर हो उठी फटिक की भाभी को नारी जाति पर कलंक जैसा ही प्रस्तुत किया गया है। कहानी में बच्चों के मनोविज्ञान के साथ-साथ सगे कहे जाने वाले रिश्तेदारों की क्रूरता और बच्चे फटिक की उपेक्षा का हृदयग्राही वर्णन

हुआ है। इन तीनों कहानियों में टैगोर काल में विकसित हो रहे रिश्तेनातों का चित्रण है, जब कि पारस मणि, बलिदानी राजा में चरित्र निर्माण की प्रेरणा दी गई है और अंतिम दीक्षा तथा बंदा बैरागी कहानियों में चरित्र निर्माण के साथ-साथ अपने उद्देश्य के प्रति डटे रहने, सर्वस्व त्याग देने और अन्याय के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा दी गई है।

अंततः कुल मिला कर कहा जा सकता है कि टैगोर न केवल भारतीयता का प्रथम रचेता, गायक, प्रसारक, विश्लेषक ही है वह आधुनिक काल का प्रथम रहस्यवादी कवि भी है, जो अपनी मनोकाक्षां को पूर्ण ब्राह्म से जोड़ देने के लिए सृजन करता रहा है, वह प्रथम आधुनिकतावादी सर्जक है जो भारतीय समाज में पनप रहे भौतिकवाद को पहचान रहा है और उसी भौतिकवादी दृष्टिकोण की छलनी में छान कर शुद्ध सुसंस्कृति की भारतीयता को समरूपि दुनिया में पहुंचाने की चेष्टा करता रहा है। उसके काव्य, कथा-साहित्य, नाटक ने आधुनिक भारतीय साहित्य को बड़ी गंभीरता से प्रभावित तथा प्रेरित किया है।

◇◇◇

यह आलेख अकैडमी द्वारा रबीन्द्रनाथ टैगोर पर आयोजित सैमीनार में पढ़ा गया है।

सम्पर्क : 128 लाजपत नगर नहर मार्ग, जम्मू 180001

लोकतांत्रिक सोच और टैगोर का काव्य

❑ मूल (उर्दू) : डॉ० प्रेमी रूमानी

रबीन्द्रनाथ टैगोर उन प्रमुख कलाकारों में से थे जिन्होंने अपनी रचनात्मक क्षमता से काव्य में एक नई क्रान्ति लाई। टैगोर कवि होने के साथ-साथ संगीत के ज्ञाता भी थे। उन्होंने उपन्यास भी लिखे और नाटक के क्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त की। टैगोर यहां अभिनेता के साथ-साथ शिक्षाविद् और अच्छे चिंतक भी थे। उनकी सोच इसी भूमि से उपजी थी। उपनिषदों के गहन अध्ययन ने उनके मस्तिष्क को एक विशाल और अथाह् सागर बना दिया था। और उनके लेखन पर इस का रंग चढ़ चुका था। यह टैगोर के लेखन का ही कमाल था कि उनकी कला को पाश्चात्य साहित्य के विशेष कलाकारों के मुकाबले में रखा जा सकता है।

टैगोर का जन्म 1861 को बंगाल में हुआ। उनका वंश सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र और नयी विचारधारा का था। इस वंश के अन्य सदस्य भी काव्य और संगीत में रुचि रखते थे। उनके बड़े भाई संगीत कला में गुरु माने जाते थे। और उनकी बहन बंगाल की सुप्रसिद्ध साहित्यकारा मानी जाती है। टैगोर ने जब साहित्य के क्षेत्र में कदम रखा तो अपने चारों ओर साहित्यिक वातावरण देखा और बचपन से ही वे साहित्य में रुचि लेने लगे। इसी के फलस्वरूप मात्र आठ वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी पहली कविता लिखी। यह कविता बहुत सराही गई और उन्हें शाबाशी भी मिली।

रबीन्द्रनाथ टैगोर आरम्भ से ही अपने राज्य और देश को प्रेम करने वाले थे। उन्होंने जो दौर देखा वह भारत में उथल-पुथल का दौर था। देश की स्वतन्त्रता के लिए बहुत से राजनैतिक आंदोलन शुरू हो चुके थे। कांग्रेस की स्थापना, बंगाल का विभाजन, जलियां वाले बाग का हत्याकांड, बहिष्कार आंदोलन और स्वराज का उद्घोष कभी न भूलने वाली घटनाएँ हैं। टैगोर को भी इन घटनाओं ने प्रभावित किया और उनके काव्य ने एक नया मोड़ लिया। टैगोर प्रारंभ में अपने काव्य में प्रकृति का बड़ा ही मनमोहक चित्रण करने लगे थे किन्तु जब उनके अन्दर का कवि व्यसक हुआ और उनको देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का आभास हुआ तो उनके काव्य ने एक नये दौर में प्रवेश किया और उसमें राष्ट्र की पीड़ा उभरने लगी। न सिर्फ अपने काव्य के माध्यम से बल्कि स्पष्ट रूप में भी वे स्वतन्त्रता आंदोलनों में भाग लेने लगे। 1905 में जब बंगाल का विभाजन हुआ तो उस विभाजन को समाप्त करने के लिए टैगोर ने अपना भरपूर सहयोग दिया। उस समय उन्होंने अनगिनत गीत और कविताएं लिखकर

देश को जगाया। उन्होंने अपने ओजपूर्ण भाषणों से फिरंगियों को ललकारा। उस समय बंगाल सरकार ने ''बन्दे मातरम्'' को असम्वैधानिक घोषित किया। इस पर टैगोर बहुत नाराज हुए और जोरदार शब्दों में अपना विरोध प्रकट किया।

टैगोर वास्तव में कौम के नेता तथा देश के वास्तविक मित्र थे। उन्होंने एक बार लिखा था–

''हम लोग अगर मुल्क की कौमी तहरीक को वाकाई कामयाब बनाना चाहते हैं तो सब से पहले हमें निम्न वर्ग के लोगों में खुद्दारी का अहसास पैदा करना होगा और इनको सही मायनों में इन्सान बनाना होगा।''

रबीन्द्रनाथ टैगोर लोकतांत्रिक मूल्यों के असीम पक्षधर थे। जब कभी कहीं यह मूल्य विघटित होते हुए दिखाई देते तो उन्हें ठेस पहुंचती थी। वह एक सच्चे इन्सान थे और इन्सानियत को ही अपना धर्म मानते थे। टैगोर की देश भक्ति में किसी प्रकार का संकीर्ण दृष्टिकोण नहीं था और न ही अन्य देशों के प्रति नफरत का भाव वह रखते थे बल्कि उनका संदेश आलौकिक था। इस सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने अपनी कविता का भरपूर उपयोग किया।

अपनी एक कविता में वह जनता को नींद से जगाते हैं और आगे बढ़ने का उत्साह देते हैं। कविता की ये पंक्तियां देखिए–

''चलो आगे चलो आगे चलो आगे मेरे भाई

सफर में ज़िन्दगी के काफिलों से पीछे रह जाना

जो सच पूछो तो जीते जी है गोया मौत का आना

फक़त जी-जी के मर के मर जाना नहीं मकसद है जीने का

है जीना नाम ज़ामे आरजू भर-भर के पीने का

चलो आगे चलो आगे चलो आगे मेरे भाई.....।''

टैगोर जनता को खुशहाल देखना चाहते थे। वह राष्ट्र के हित और भलाई के लिए जी जान से कार्य करना चाहते थे। गांधी जी से 1915 में पहली बार टैगोर की भेंट हुई। गांधी जी की देश भक्ति से वह बड़े प्रभावित हुए और उन्हें ''महात्मा'' की उपाधि दी। 1918 में प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ। इसके साथ ही भारतीय राजनीति ने भी एक नयी करवट ली। रोलिट बिल की मन्जूरी के विरुद्ध महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह' आंदोलन आरम्भ किया था। इस दौरान पंजाब में कई घटनाएं घटी और जनरल डायर ने नरसंहार करके जलियांवाले बाग को भारतीयों के खून से रंग डाला। यह दुखद समाचार जंगल की आग की भांति पूरे देश

में फैल गया। टैगोर ने अंग्रेज़ों की इस क्रूर कार्यवाही के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए वायसराय हिन्द लार्ड चैमसीफोर्ड को एक नाराज़गी भरा पत्र लिखा और 1915 में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें जो ''नाइट हैड'' की उपाधि दी थी टैगोर ने उस उपाधि को लौटा दिया।

टैगोर ने अपने काव्य के माध्यम से उन इच्छाओं और जज़्बों को स्वर दिया जो करोड़ों भारतीयों के हृदयों में मचल रहे थे। वह उन भारतीयों में से थे जो साझेपन और दोटूक बात कहने में विश्वास रखते थे। टेगौर गफ़लत की नींद में सोने वालों के विरुद्ध थे। वह जिज्ञासु और निडर इन्सानों को ही पसंद करते थे। वह स्वयं भी ऐसे ही व्यक्तियों के साथ चलना चाहते थे। इसलिए वह बार-बार कहते थे।

''मेरी मुक्ति दुनिया को छोड़ने से नहीं होगी, मैं इन्सानों के दरम्यान रहना चाहता हूं।''

इसी दृष्टिकोण को वह अपनी 'दुआए हिन्द'' शीर्षक वाली कविता में बड़े ही प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत करते हैं-

''तूने हमें ज़िन्दा रहने के लिए पैदा किया
हम इस गैरत को पूरी कुवत से बरकरार रखेंगे
क्योंकि हमारी खुशनवदी और शान इसी में है कि हम ज़िन्दा रहें
इस लिए तेरे नाम पर हम इस कुवत का मुकाबला करेंगे
जो हमारी रूह पर कब्जा करे।''

टैगोर के काव्य में लोकतांत्रिक सोच का एक विषय यह भी है कि वह सच्चाई को दार्शनिक सोच से अलग करके एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो एक नये अनुभव के रूप में सामने आता है। जीवन के प्रति टैगोर का दर्शन एक अलग ही स्थान रखता है। वह जीवन को बड़ा महत्त्व देते हैं, बशर्ते जीवन एक विशेष उद्देश्य के लिए हो, सिर्फ मरने या ज़िन्दा रहने के लिए नहीं हो। वह अपने इस दृष्टिकोण को ''गीताञ्जलि'' में बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं-

''ज़िन्दगी सजदा नहीं बल्कि एक बरकत और अतिया है
ज़िन्दगी में देखने और सुनने की काबल-ए-कदर और मस्सरत
बख्श सलाहयतें मौजूद हैं। ज़िंदगी के मायनी हैं कि हम अपने
वजूद की ताकतों के इस्तेमाल से सचाई, नेकी
और खूबसूरती को हर तरफ़ फैलाएं। हमारा ध्येय हक़ीक़त के
इज़हार के लिए हो, किसी शख्सी मक़सद के लिए नहीं।''

टैगोर के अनुसार खुशहाल जीवन व्यतीत करने और उसमें रौनक लाने और सौंदर्य उत्पन्न

करने के लिए व्यक्ति को मन लगा कर पूरी निष्ठा से कार्य करना चाहिए। व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म, जाति अथवा मजहब से सम्बन्ध क्यों न रखता हो, वह परिश्रम से ही अपना जीवन खुशहाल बना सकता है। तथा भगवान को पा सकता है।

अपनी एक कविता में समस्त संसार को मानवता का सन्देश देते हुए वह लिखते हैं–

''खुदा वहां है जहां किसान बंजर पथरीली ज़मीन खोद रहा है
और यहाँ सड़क बनाने वाला पत्थरों को तोड़ रहा है।
वह धूप और बारिश में तेरे साथ है।
और उसके कपड़े
गरदो ग़ुबार में उड़े हुए हैं।''

टैगोर की अनगिनत रचनाओं में देश-भक्ति और जनता के प्रति उनका लगाव आंखों के सामने आ जाता है। उनके काव्य में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिनमें लोकतांत्रिक सोच स्पष्ट झलकती है। ''आज़ाद मुल्क'' में उन्होंने जो स्वप्न देखा था वह प्रत्येक देशवासी का स्वप्न जान पड़ता है। वह कहते हैं–

''यहां दिल को खौफ़ नहीं है और सर ऊँचा है
यहाँ इल्म मुफ्त दिया जाता है
यहाँ दुनिया को
तंग खानगी दीवारों के ज़रीये टुकड़े-टुकड़े
नहीं किया गया
यहाँ सचाई की गहराई से अलफ़ाज़ निकलते हैं।
यहाँ अनथक कोशिशें कमाल की तरफ
अपने बाजू फैलाए हुए हैं
यहाँ अकल की साफ नदी
अपनी मुरदा आदत की रीत के भयानक
सहरा में
अपना रास्ता नहीं खो बैठती।''

टैगोर धार्मिक तौर पर ब्रह्म समाज से सम्बन्ध रखते थे। ब्रह्म समाज से सम्बन्धों ने उनको रूढ़िवादिता से निकाल कर प्रगतिशील विचारधारा की ओर उन्मुख कर दिया।

उनके अमर गीतों में अपनी भूमि और अपनी संस्कृति की महक है। उनका काव्य इस

बात का साक्षी है कि वह मानवता से अत्यंत प्यार करते थे। वह प्रत्येक व्यक्ति में अनश्वर हक़ीक़त की चमक देखते थे। उनकी नज़र में वही लोग अध्यात्मिक हैं जो खून-पसीना एक करके जीते हैं। भारत और भारतीयों के साथ अगाध प्रेम के साथ ही वह महाऋषि के पक्षधर भी थे और वैश्विक भाईचारे के लिए कार्यरत भी थे। विश्व भारती विश्वविद्यालय की नींव उनके इस दृष्टिकोण का ज्वलंत उदाहरण है। शांति निकेतन भारतीय गांवों को ऊपर उठाने की पहली विजय।

टैगोर की कविता और गीत ''जन गण मन'' हो या ''दीदी'', ''संध्या संगीत'' हो या ''सोने की नाव'', ''पुराना नौकर'' हो या ''क़ातिल की रात'', इन सभी कविताओं में भारतीयता झलकती है। इस का कारण यह है कि उनकी रग-रग में देश भक्ति एवं राष्ट्र पीड़ा के साथ-साथ लोकतांत्रिक सोच की जड़ें विद्यमान हैं। टैगोर के काव्य में ग़रीब और लाचार जनता के प्रति सहानुभूति मिलती है। यहाँ के किसानों, बागों, पहाड़ों आदि के वर्णन से उनका काव्य भरा पड़ा है। उनकी प्रत्येक रचना में देश प्रेम भी कूट-कूट कर भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

अनु० डॉ. रतन बसोत्रा

❖ ❖ ❖

** विशेष : यह आलेख गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर पर अकैडमी द्वारा आयोजित सैमीनार में पढ़ा गया है।*

ब्रह्मचार्य आश्रम के लड़के
शांति निकेतन - 1903

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर का उपन्यास
गोरा—एक सर्वेक्षण

❑ डॉ० सत्य पाल श्रीवत्स

विश्वविख्यात युग द्रष्टा बहुमुखी प्रतिभा के धनी, मनीषी गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर का बंगला और भारतीय साहित्य ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य तथा बुद्धिजीवी समाज में आदरणीय स्थान है। इनकी कृतियों में 119 कहानियां, 12 उपन्यास, 40 नाटक, 3000 कविताएं, कई निबन्ध, संस्मरण, अनेक बालसाहित्य संबंधी रचनाएं बंगला साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनके अतिरिक्त इनकी चित्रकला एवं कृतियों की संख्या 2500 है। इनके द्वारा स्थापित विश्व भारती (शान्तिनिकेतन) विश्वविद्यालय संसार-भर के विश्वविद्यालयों से भिन्न होने से अपनी विश्वप्रसिद्ध पृथक पहचान बनाए हुए है। इन्होंने जब अपनी अनूठी कृति गीतांजलि का स्वयं ही अंग्रेज़ी में अनुवाद किया तो उसे इतनी अद्‌भुत रचना माना गया कि उसे नोबल पुरस्कार के लिए उपयुक्त समझ कर सम्मानित किया गया।

इनके बारह उपन्यासों में गोरा उपन्यास सब से बड़ा भी और श्रेष्ठ भी समझा जाता है। जब यह प्रकाशित हुआ था तो कई आलोचकों और साहित्यकारों ने भले ही अपने पक्षपाती दृष्टिकोण के कारण इसे मान्यता देने में आनाकानी की हो, पर निष्पक्षता से नीर-क्षीर विवेक रखने वालों ने निस्सन्देह इसे सर्वश्रेष्ठ रचना ही नहीं माना था, बल्कि इसे तत्कालीन भारतीय कथा साहित्य का 'महाभारत' नाम देकर इसे गरिमा प्रदान की थी। इस उपन्यास की रचना इन्होंने अगस्त 1907 ई० में आरम्भ करके मार्च 1910 ई० में सम्पन्न की थी। उन्हीं दिनों इनकी 'गीतांजलि' की रचना पूर्ण हुई थी। उस समय के प्रसिद्ध बंगाली समाचार पत्र 'प्रवासी' के संपादक रबीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुरोध पर इन्होंने उस पत्र में उपन्यास को किश्तों में छपवाना मान लिया था।

अनुमान है कि इस उपन्यास की परिकल्पना की पृष्ठ भूमि में गुरुदेव की सोच में उनके समकालीन भारतीय समाज पर विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा किये जा रहे अत्याचारों द्वारा होने वाली दयनीय स्थिति की तस्वीर थी, जिसे उन्होंने इस उपन्यास के माध्यम से प्रबुद्ध समाज के कान खोलने का मुख्य उद्देश्य बनाया था। वस्तुत: उस समय भारतीय समाज अति संकटापन्न संक्रान्ति काल से गुजर रहा था। साम्राज्यवाद के दमन चक्र का शिकार भारतीय समाज ऊंच-नीच, जात-पात के भेदभाव के कारण फैली हुई घृणा, निरक्षरता तथा छुआछूत की बीमारी से ग्रस्त था, परन्तु साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादी कूटनीति के अन्यतम घटक मैकाले की भारतीय युवा वर्ग को अंग्रेज़ी

भाषा की शिक्षा द्वारा काले अंग्रेज़ या अपना प्रशासन चलाने के लिए मात्र बाबू-क्लर्क बनाने की गहरी चाल भी अपना रंग दिखाने लग पड़ी थी। इस नीति से भी सर्वथा विपरीत स्थिति उत्पन्न हो रही थी। अर्थात् पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति के रंग में रंगा हुआ एक अलग वर्ग उत्पन्न हो रहा था।

धर्म के नाम पर आडम्बर और कट्टरवाद के परिणाम स्वरूप अनेकों मत-मतान्तर आपस में आये दिन लड़ाई-झगड़ों में उलझे रहते थे। यदि संक्षेप से कहें तो उस समय भारतीय समाज कई विसंगतियों का शिकार होकर त्राहि-त्राहि करके कराह रहा था। इस संदर्भ में डॉ० रणजीत साहा का यह कहना है-''यह उपन्यास उस दौर की रचना है जब नवीन बुद्धिजीवी वर्ग भारतीय समाज के सांस्कृतिक और बौद्धिक जागरण के महापर्व को दूर या निकट से देख रहा था। अपनी वैचारिक प्रौढ़ता और समसामयिक विरोधाभास से भरपूर भारतीय मानव उन जटिलताओं से भी जूझ रहा था, जिन से चाहे उसे स्पष्ट राह नहीं मिल रही थी, पर जो उस भारतीय राष्ट्रवाद के चरित्र विशेष के विश्लेषण में भी सक्षम था, जिसकी शाखाएं एक और अतिवादी हिन्दुवाद में और दूसरी शाखाएं वैश्विक और उदात्त मानववाद में फैली हों।' उस वक़्त गुरुदेव ने अपने चिन्तन के क्षणों में उपनिषद् और अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त के नीचे दिये इन अमर सन्देशों को अवश्य ही ध्यान में रखकर विश्व बन्धुत्व या वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा को अपने अन्त:करण में स्थापित किया होगा, ऐसा हमारा अनुमान है और फिर उसी अवधारणा या कल्पना को इस उपन्यास में साकार करने की योजना बना ली होगी। ये अमर सन्देश वाक्य हैं-

उपनिषद्- 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

अर्थात्-जो व्यक्ति सारे प्राणियों को अपने में देखे और अपने आपको सभी प्राणियों में देखे वह न तो किसी को तुच्छ समझता है और न ही किसी के साथ घृणा करता है। अथर्ववेद का ऋषि इस अवधारणा से किंच्चित् आगे जाकर यह घोषणा करता है-

जन विभ्रती बहुधा विवा चसम्।
नानाधर्माणि पृथ्वी यथौकसम्।

अर्थात्-अनेकों धर्मों को मानने वालों और अनेकों भाषाएं बोलने वाले मनुष्य या मनुष्यों को यह धरती माता एक घर के समान धारण करती है।

साहित्य अकादमी के पूर्व सचिव प्रो. इन्द्रनाथ चौधरी का इस संदर्भ में यह कहना बड़ा ही सार्थक एवं उपयुक्त है-

''कवि को यह दुख है कि भारतवासी अपने इस गौरवमय इतिहास को भुलाकर दासता के सुख से चेहरे पर फैली हुई हंसी को लेकर तथा हाथ जोड़ कर अपने प्रभु के सामने खड़ा है। उसके पैरों पर लोटकर घृणा से सने हुए अन्न को बीनकर वह अपनी मुट्ठी भरता है और खुश मन से

अपने घर लौट जाता है। घर में जाकर गर्व करता है कि उसके पुरुष आर्य थे, जिनसे सारी पृथ्वी थर्राती है।''[2]

उस समय के भारत के इस प्रकार के पतनशील चित्र को अपने प्रातिम चक्षु (vision) में अनुभव करके गुरुदेव के मन में एक भयंकर विद्रोह उबलने लग पड़ा था। परिणामत: उन्होंने 1905 ई. में बंग-भंग आन्दोलन के समय पर एक क्रान्तिकारी कविता रची थी, जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं।

ए बार तोर भरा मांगे बना एसे छे।

जब मां बले मासा तरी।

अर्थात्-अब तेरी नदी में बाढ़ आ गई है। इसलिए अब तू भारत माता का नारा लगाते हुए अपनी नाव को चलाना आरम्भ कर दे। इन पंक्तियों के प्रतीकात्मक रूप का भाव यह है कि अब हमारे देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ हो गया है। अब उस में सम्मिलित होकर देश की भलाई के लिए ठोस उपाय करके आत्मविश्वास का श्वास लो। अनेकों विरोधाभासों और विसंगतियों में ग्रस्त भारतीय समाज और उसमें भी बंगला समाज का ऐसा चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत करने के लिए गुरुदेव को इसकी कथावस्तु का ताना-बूना दो समानान्तर और दो लघु प्रासंगिक कथाओं को मिलाकर बुनना पड़ा था। इस विषय में राम जी का कहना बिल्कुल युक्ति-युक्त है-

"pitted against such a social backgound are numerous characters each of which is unique and strongly in didualistic, infact, it is through these various characters and their stories that Tagore looms upon almost every single concern of the society mainly the religious narrow mindedness. Hence, the novel is woven with several sub plots, intermediary stories and events which, though sometimes seem to meander away from the main theme and malign beauty of the plot."

अर्थात्-इस प्रकार की सामाजिक पृष्ठ भूमि से घिरे हुए अनेक चरित्र, जिसमें प्रत्येक अपने ढंग का भी है और पूर्णतया आत्म केन्द्रित भी है। वस्तुत: इन्हीं विविध चरित्रों के माध्यम से तथा उनकी कहानियों के माध्यम से टैगोर हर पहलुओं को जांचते-परखते हैं और विशेषकर धार्मिक संकीर्णता को भी गम्भीरता से अपनी तीक्ष्ण बुद्धि की कसौटी पर परखते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास की कथावस्तु छोटी-छोटी मध्यवर्ती कथाओं के साथ-साथ भी बुनी गई है, यद्यपि जिनमें से कुछ प्रधान कथावस्तु के सौन्दर्य में बाधा भी उपस्थित करती हैं।

इस उपन्यास की दो प्रधान समानान्तर कथाओं में से जिसका सम्बन्ध नायक के साथ है, उसी को हम प्रधान कथा मानते हैं। इस प्रधान कथा के मुखिया हैं कृष्ण दयाल, जिसके परिवार में अन्य

सदस्य हैं–उसकी पत्नी आनन्दमयी, बड़ा पुत्र महिम, उसकी बेटी शशिमुखी और छोटा बेटा पालतू धर्म पुत्र गौरमोहन जो गोरा नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि प्रस्तुत उपन्यास में इसी की मुख्य भूमिका है, अत: यही उपन्यास का नायक है और इसीलिए उपन्यास का शीर्षक भी इसी के नाम से है।

घर का मुखिया कृष्ण दयाल इतना कट्टर एवं अन्धविश्वासी सनातनी हिन्दू है कि वह अधिक समय एक अलग साधना कक्ष में ही व्यतीत करता है, जहां सिवाय उसकी पत्नी आनन्दमयी के कोई अन्य प्रवेश भी नहीं कर सकता है। उसके घर के उसकी पत्नी को मिलाकर अन्य सदस्य सनातनी-हिन्दू विचारों के अनुयायी अवश्य हैं, पर इतने कट्टर एवं अन्धविश्वासी भी नहीं है।

कुछ समय के बाद उनके घर में पहले विनय भूषण, बनाम विनय तथा अवनीश नामक युवकों का आना-जाना भी आरम्भ हो जाता है, क्योंकि ये दोनों ही गोरा के मित्र हैं। इनमें से विनय तो धीरे-धीरे उनके घर का एक प्रकार से अंन्तरंग सदस्य ही बन जाता है, इसलिए गोरा का उसके साथ मैत्री भाव और दृढ़ हो जाता है। इसी लिए वह एक बार भावुक हो कर उससे कहता है–''भाई विनय, हम दोनों मरेंगे तो एक ही मौत मरेंगे। हम दोनों एक हैं, हमें कोई अलग नहीं कर सकेगा। कोई अलग करके बांध नहीं सकेगा। (पृ० 78)''

गोरा के ये दोनों मित्र भी सनातनी हिन्दू होते हुए भी कट्टरवाद के सख़्त विरोधी हैं।

जहां तक इस उपन्यास के नायक गोरा के व्यक्तित्व का प्रश्न है वह यथा नाम तथा गुण मुहावरे को पूरी तरह चरितार्थ करता है।

उसका व्यक्तित्व एवं चरित्र अपने ढंग का अनूठा है। वह एक गोरा-चिट्टा, ऊंचा-लम्बा, हट्टा-कट्टा एवं निधड़क युवक है। स्वाभिमान और अड़ियलपन उसमें मानों कूट-कूट कर भरे हुए हैं। वह बाहर से यद्यपि कट्टर हिन्दू प्रतीत होता है, परन्तु भीतर से वह जीव मात्र से प्यार एवं सहानुभूति रखने वाला युवक है। वह अपने आपको गर्व से भले ही हिन्दू धर्म का अनुयायी मानता है, परन्तु अन्य धर्म के मानने वालों के प्रति भी उसके मन में किसी भी प्रकार का द्वेष भाव नहीं है। उसके चरित्र निर्माण में उपन्यासकार ने अपनी औपन्यासिक तकनीक का निश्चय ही भरपूर उपयोग किया हुआ है।

जैसे कि ऊपर संकेत किया ही जा चुका है कि गोरा कृष्ण दयाल दम्पति का पालतू पुत्र होने से उनका धर्म पुत्र है। जिसके माता-पिता आयरिश थे। उसका पिता तो 1857 के समय भड़के विद्रोह (जिसे पहला स्वतन्त्रता संग्राम भी कहा जाता है) के समय विद्रोहियों के भय से भागता-भागता-गोली का शिकार हो गया था, जब कि मां कृष्ण दयाल दम्पति के घर आकर छिप गई थी। उस समय वे लोग इटावा में रहते थे। भाग्य की विडम्बना कि वह आयरिश महिला भी गोरा को जन्म देने के तुरन्त बाद काल-कवलित हो गई थी। परिणामत: जन्मजात शिशु गौर मोहन (गोरा) कृष्ण दयाल दम्पति की दया पर ही रह गया था। उन्होंने भी जीव-मात्र की रक्षा करने के अपने व्रत

का पालन करते हुए गोरा को अपना धर्म पुत्र मान कर उसका पालन-पोषण करना आरम्भ कर दिया था। स्वाभाविक था गोरा के व्यक्तित्व पर कृष्ण दयाल और आनन्दमयी के व्यक्तित्वों का मिश्रित प्रभाव पड़ना, किंचित कट्टरपन और अधिक उदार भाव भी। क्योंकि प्राय: स्वाभाविक रूप में बच्चों पर उनकी माताओं के व्यक्तित्वों का अधिक प्रभाव तो रहता ही है, यद्यपि इस विषय में अपवाद तो मिलते ही हैं। निष्कर्षत: आयरिश दम्पति का वह मातृ-पितृ विहीन गोरा हिन्दू संस्कारों की घुट्टी पाकर वह संस्कारत: हिन्दू युवक के रूप में उभर कर सामने आता है और आनन्दमयी के रूप में उसे ऐसी मां मिलती है जो उसे अपना ममता-भरा प्यार देकर बड़ी लगन और परिश्रम से पाल-पोसकर बड़ा करती है।

क्योंकि एक हिन्दू परिवार में पलकर उन संस्कारों के अनुसार उसका जीवन ढल चुका है, इसीलिए वह गर्व से कहता है-''मैं भी एक हिन्दू हूँ। इस धर्म का मर्म आज भले ही न समझूं, कल तो समझ ही पाऊँगा और अगर ठीक से समझ न भी पाऊं तो भी चलना तो इसी पर होगा। हिन्दू समाज के साथ पूर्व जन्म का सम्बन्ध तोड़ न पाया, तभी तो इस जन्म से ब्राह्मण के घर जन्मा। ऐसे ही जन्म-जन्मान्तर में इसी हिन्दू धर्म और समाज के भीतर से ही उसकी चरम परिणति तक पहुँच पाऊँगा और कभी भूल से भी किसी दूसरे रास्ते की ओर मुड़ा भी तो दोगुणे वेग से लौट आऊँगा।''

इस उपन्यास की कथा वस्तु में दूसरी समानान्तर चलने वाली कथा का मुख्य पात्र परेश बाबू ब्रह्म समाज को तन, मन और धन से समर्पित होता हुआ भी दूसरे धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार का घृणा और उपेक्षाभाव नहीं रखता है। वह बड़ा ही सहनशील और मधुर स्वभाव का व्यक्तित्व है। हां, उसकी पत्नी वरदा सुन्दरी अवश्य कट्टर ब्रह्म समाजी विचारों की अनुगामिनी है, जबकि उस दम्पति की तीनों बेटियां लावण्या, ललिता और लता तथा बेटा सुधीर ब्रह्म समाज के सदस्य अपनी मां के समान इतने कट्टर विचारों के नहीं हैं। उन पर माता की अपेक्षा अपने पिता के उदार स्वभाव का अपेक्षाकृत अधिक असर है। कट्टर ब्रह्म समाजी विचारों के अनुयायी हारान बाबू का बार-बार उनके घर आकर अपने मत का प्रभाव जमाना भी उन बच्चों को प्रभावित नहीं कर सकता है। सिवाय वरदा सुन्दरी के, उस ओर कोई अन्य बिल्कुल भी ध्यान नहीं देता है।

कथावस्तु में दो अन्य अवान्तर कथाओं के सदस्य हैं परेश बाबू के घनिष्ठ सनातनी हिन्दू स्व० रामशरण, उसकी बेटी राधारानी बनाम सुचरिता और उसका छोटा भाई सतीश। इन दोनों बच्चों को अपने मित्र रामशरण की मृत्यु के बाद हारान बाबू अपने घर ले आता है और पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से करता है। इतना ही नहीं सुचरिता की शालीनता और विनम्र स्वभाव के कारण उसके साथ तो अपने बच्चों से भी बढ़कर प्यार करता है। रामशरण भी मरते समय अपनी संपत्ति की वसीयत अपने बच्चों के नाम करके परेश बाबू को सौंपते हुए कह जाता है कि उसके बच्चों का पालन-पोषण अपने बच्चों के समान करते रहना और बाद में सुचरिता का विवाह भी करवा देना और सतीश को भी बड़ा होने पर यथासम्भव व्यवस्थित कर देना।''

वरदा सुन्दरी को उन सनातनी हिन्दू बच्चों का अपने परिवार में रहना कदापि सहन नहीं होता

है इतना ही नहीं जब राय चौधरी परिवार की विधवा महिला, हरिमोहिनी, जो सुचरिता की मौसी भी है, अपने देवरों द्वारा लुटी-पुटी तीर्थ यात्राएं करती हुई उसी परिवार में आकर आश्रय ले लेती है तो वरदा सुन्दरी के जलन भरे रोष की इन्तहा ही हो जाती है। इसलिए अपने परिवार में इनका रहना कदापि सहन नहीं होता है। यही कारण है कि वह सदा जलती-भुनती ही रहती है। वह तभी प्रसन्न हो सकती है यदि सुचरिता हारान बाबू के साथ विवाह भी कर ले और ब्रह्म समाज की दीक्षा भी ले ले परन्तु सुचरिता उसके आग्रह को कभी भी मानने को तैयार नहीं होती है। उधर परेश बाबू एक तो उसे अपने बच्चों से बढ़कर प्यार देता है और दूसरा उसे कभी भी न तो हारान बाबू के साथ विवाह करने को विवश करता है और न ही ब्रह्म समाज में सम्मिलित होने के लिए ही प्रेरित करता है। जब वह उन दोनों भाई-बहन के लिए कलकत्ता में ही उन्हीं के पिता द्वारा सौंपी हुई संपत्ति से खरीदे हुए दो मकान किरायेदारों द्वारा खाली किए जाने पर रहस्य का पर्दा उठा कर कहता है- ''कलकत्ता में तुम्हारे पिता द्वारा मरते समय मुझे जो रुपये सौंपे गये थे, मैंने उसी रकम से तथा उसी से प्राप्त सूद जोड़ कर कलकत्ता में दो मकान खरीदे थे। अब तक उनमें किरायेदार रहते थे, जो अब चले गये हैं। उनमें से सुचरिता, एक मकान तुम्हारे नाम है और दूसरा सतीश के नाम है। तुम्हारा विवाह हो जाने तक तुम दोनों बहन-भाई एक मकान में रह सकते हो और दूसरे में तुम्हारी मौसी हरिमोहिनी। क्योंकि वह बड़ी कट्टर पन्थी और अन्धविश्वासी हिन्दू महिला है, इसलिए उसका अकेले रहना ही उचित है।'' (पृ० 227)

जब वे दोनों भाई-बहन और उनकी मौसी हरिमोहिनी परेश बाबू के कहने पर उन मकानों में चले जाते हैं, तब जाकर वरदा सुन्दरी को शान्ति और राहत की सांस आने लगती है।

उपन्यास का नायक गोरा परेश बाबू के घर एक-दो बार आने पर सुचरिता से परिचित ही नहीं होता है बल्कि उसके मधुर एवं यौवन सुलभ सौन्दर्भ के प्रति आकर्षित भी होता है और दूसरी ओर उत्तर में सुचरिता भी मन-ही-मन उसे चाहने लगती है, परन्तु तो भी गोरा अपने मिशन के प्रति प्रतिबद्धता के कारण अपनी लक्ष्मण रेखा से आगे नहीं बढ़ता है। इसीलिए वह एक स्थान पर उसे कह भी देता है-''मैं अपनी श्रद्धा के द्वारा देश के हृदय को हमारे धर्म-तत्त्व की महत्ता और भक्ति-तत्त्व की गंभीरता के प्रति जागृत करना चाहता हूं। उनकी जो संपत्ति है, उसमें उनका अभिमान जगाना चाहता हूँ। मैं उनका माथा झुकाना नहीं चाहता, न ही यही चाहता हूं कि उनमें अपने प्रतिधिक्कार का भाव पैदा हो और वे सत्य के प्रति अंधे हो जाएं। यही मेरी प्रतिज्ञा है। (पृ० 322)''

दूसरी ओर जब परेश बाबू और वरदा सुन्दरी की मध्यवर्ती बेटी ललिता अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र विचारों की होने के कारण अपनी इच्छा से गोरा के मित्र विनय के साथ अकेली समुन्द्री जहाज में यात्रा करते समय उसके प्रति आकर्षित हो जाती है और इसीलिए वरदा सुन्दरी और हारान बाबू आदि सभी ब्रह्म समाजी क्रोध से लाल-पीले हो जाते हैं, परन्तु परेश बाबू इस विषय में कोई भी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करने के स्थान पर मौन रहना ही उचित समझता है। फिर जब वह विनय के साथ अपनी इच्छा से विवाह भी कर लेती है तो ब्रह्म समाज में एक प्रकार से क्रोध का भयंकर

तूफान ही आ जाता है। उधर इससे पहले जब गोरा को यह ज्ञात होता है कि विनय ललिता से विवाह भी कर रहा है और सम्भवत: ब्रह्म समाज की दीक्षा भी लेने वाला है तो किंचित् क्षुब्ध होकर विनय से कुछ समय के लिए रुष्ट भी हो जाता है। परन्तु जैसे पहले कहा ही जा चुका है कि सुचरिता क्योंकि उदारवादी हिन्दू विचारों में आस्था रखने के कारण ही वरदा सुन्दरी द्वारा विवश किये जाने पर भी कट्टर ब्रह्म समाजी विचारों के अनुयायी हारान बाबू से कदापि विवाह करने के लिए तैयार नहीं होती। इसके विपरीत यदि गोरा तैयार हो जाए तो वह उससे विवाह कर सकती है। इस विषय में उसका केवल गोरा के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होना ही कारण नहीं है, अपितु गोरा के मन में जो भारतीय समाज की बुराइयां दूर करके सुधार लाने का उद्देश्य एवं 'मिंशन' भी है, वह भी एक कारण है। परन्तु जब गोरा विवाह करने के विषय में अपनी बेरूखी ही अभिव्यक्त कर देता है तो वह निराश ही नहीं हो जाती बल्कि सदा के लिए अविवाहित रहने का निश्चय भी कर लेती है। एक बार पुन: वह सुचरिता के साथ बातचीत करता हुआ अपने विचार यों अभिव्यक्त करता है।–''मुझे अब एक कट्टर व्यक्ति मत समझ लीजिएगा। कट्टर लोग और विशेष कर जो लोग कट्टर नहीं भी हो गए हैं, वे हिन्दू धर्म के बारे में जिस ढंग से बात करते हैं, मेरी बात को उस ढंग से न लीजिएगा। भारत वर्ष की अनेक प्रकार की झलक और विचित्र चेष्टाओं के बीच मैं एक गहरा और बहुत ऐक्य देख रहा हूं। उसी ऐक्य के आनन्द से मैं पागल हूं। उसी ऐक्य के आनन्द से भारतवर्ष में जो सब से मूढ़ हैं, उनके साथ हिल-मिल कर धूल में बैठने में मुझे जरा भी संकोच नहीं होता। भारतवर्ष की इस वाणी को कई समझते हैं, कई नहीं समझते, न सही, मैं अपने भारत के सब लोगों के साथ एक हूं। सभी मेरे हैं। (पृ० 120)

जब कृष्ण दयाल इतना बीमार हो जाता है कि मरनासन्न स्थिति तक पहुँच जाता है, तब वह गोरा को अपने समीप बुलाकर कहता है ''मेरे मरने के बाद तू मेरा श्राद्ध इस लिए नहीं कर पाएगा, क्योंकि तू मेरा पुत्र नहीं है। यह सुनते ही वह घबरा उठता है और झट आनन्दमयी की ओर घूमकर पूछता है।–''मैं इनका पुत्र नहीं हूं ? (पृ० 399) वह उत्तर देती है–''नहीं'' यह सुनकर उसकी स्थिति और भी दुखद हो जाती है। वह जब कृष्ण दयाल से पूछता है–''तब मुझे तुम लोगों ने कहां पाया ?'' कृष्ण दयाल उत्तर देता है–''उस समय गदर था। हम लोग इटावा में थे। तुम्हारी मां ने सिपाहियों के डर से भाग कर रात को हमारे यहां आकर शरण ली थी। तुम्हारा बाप उससे पहले दिन ही लड़ाई में मारा गया था। उनका नाम..... यह सुनकर गोरा गर्ज कर कहता है–''

''रहने दीजिए उनका नाम, मैं नहीं जानना चाहता।'' (पृ० 399)

गोरा की गर्ज सुनकर किंचित् झिझकता हुआ कृष्णदयाल कहता है–''वह आयरिश मैन थे। उसी रात तुम्हारी मां तुम्हें जन्म देकर मर गई थी। तब से तुम्हारा पालन-पोषण हमारे ही घर हुआ (पृ० 399) यह सुनकर गोरा पागलों के समान छटपने लगता है। वह उस समय सोचता है–''अब मैं हिन्दू नहीं हूं।'' परन्तु कुछ समयोपरान्त धैर्य करके अपने आपको संभालता हुआ परेश बाबू के समीप जाकर कहता है–''मेरी बात आप ठीक समझ रहे हैं न ? मैं दिन-रात जो होना चाहता था, पर हो नहीं पा रहा था। आज मैं वही हो गया हूँ। आज सारे भारतवर्ष का हूँ। मेरे भीतर हिन्दू

मुसलमान, बगैरा किसी समाज के प्रति कोई विरोध नहीं। आज इस भारतवर्ष में सब जात मेरी जात हैं सब का अन्न मेरा अन्न है। (पृ० 402)

कुछ समय की चुप्पी के बाद वह पुन: उसी आवेश में परेश बाबू के पास जाकर कहता है– ''मैंने जो कल्पना करके प्रार्थना की थी, उसकी ओर ईश्वर ने ध्यान नहीं दिया–उन्होंने एका-एक अपना ही सत्य सहसा मेरे हाथ देकर मुझे चौंका दिया है। वह यों एका-एक मेरी सारी अपवित्रता को मूल-समूल मिटा देंगे, यह मैं स्वप्न में भी नहीं जानता था। आज मैं ऐसा पवित्र हो गया हूं कि चांडाल के घर भी अब मुझे अपवित्रता का डर न रहा। परेश बाबू, आज सवेरे ही खुलेमन से मैं ठीक भारतवर्ष की गोद में आ बैठा हूँ–मां की गोद किसे कहते हैं, यह आज इतने दिन-बाद मैं पूरी तरह अनुभव कर सका हूँ। (पृ० 403)

उस समय परेश बाबू उसकी उदार और विश्वबन्धुत्व भाव भरी बातें सुनकर इतना प्रभावित हो जाता है, कि भारत माता की विशाल गोदी में आकर सारे भेद-भाव भूलकर सबका भला करने का जो अधिकार उसे प्राप्त हुआ उसमें स्वयं भी सम्मिलित होने की अभिलाषा करने लग पड़ता है। गोरा उसके पवित्र विचार सुनकर फिर कहता है–''आप के पास ही इस मुक्ति का मंत्र है। इसी लिए आज आपको किसी समाज में स्थान नहीं मिल रहा है। आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। आप मुझे उसी देवता का मंत्र दीजिए जो हिन्दू-मुसलमान, खिस्तान और ब्रह्म समाज सबका है, जिसके मंदिर का द्वार किसी जाति, किसी व्यक्ति के लिए कभी बंद नहीं होता–जो केवल हिन्दू का देवता नहीं है, बल्कि सारे भारतवर्ष का देवता है। (पृ० 403)

उसके बाद गोरा घर आकर देखता है कि मां आनंदमयी बड़ी उदास होकर बैठी हुई है। वह आते ही उस के पैरों पर अपना सिर रखकर कहता है–''मां, तुम्हीं मेरी मां हो। जिस मां को मैं खोजता फिर रहा था, वह तो यहीं मेरे कमरे में बैठी हुई थी। मां, तुम्हारी जात नहीं है। तुम ऊँच-नीच का विवाद नहीं करती। घृणा नहीं करती। तुम केवल कल्याण की प्रतिमा हो। तुम मेरा भारतवर्ष हो। (पृ० 404)

ऊपर दिये गए विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुदेव रबीन्द्र ने इस उपन्यास की कथावस्तु का ताना-बाना दो बड़ी समानान्तर और दो छोटी अवान्तर कथाओं को मिलाकर पर्याप्त उलझन तथा घात-प्रतिघातों के साथ बुना है, जिसे बुनना निश्चय ही गुरुदेव जैसे उच्चकोटि के कथाकार का ही काम था। उन्होंने एक ओर उस समय के भारत में फैली हुई साम्प्रदायिकता का भाव, गरीबी, ऊंच-नीच का भाव, जात-पात एवं वर्ग भेद जैसी बुराइयों की सही तस्वीर खींची है जब कि दूसरी ओर व्यापक मानवतावादी और विश्वबन्धुत्व की भावना उजागर करने का यत्न भी किया हुआ है। इस उपन्यास की कथावस्तु का प्रवाह एक पथरीली नदी के प्रवाह के समान अपनी कई पथ-बाधाएं एवं रुकावटें झेलता हुआ अन्त में चरमोत्कर्ष तक पहुँच कर अपने उद्देश्य की पूर्ति भले ही नहीं कर पाता है, परन्तु उसके लिए एक दिशा तो निश्चित कर ही देता है।

इस उपन्यास के सभी पात्र अपनी-अपनी भूमिका बड़ी कुशलता एवं जीवन्तता के साथ निभाने में समर्थ हैं।

इस उपन्यास का अनूदित हिन्दी संस्करण ही हमारे सामने आया है, जो यद्यपि सौभाग्य से हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और साहित्यकार सच्चिदानंद हीरानंद वात्सयायन अज्ञेय द्वारा किया हुआ है, परन्तु फिर भी अनुवाद तो अनुवाद ही होता है जबकि मौलिक रचना तो मौलिक रचना ही होती है। स्वाभाविक है कि वह एक आलोचक-पाठक से तो दूर ही है। इसलिए इसकी भाषा के बारे में कुछ न कहते हुए इस का वाक्य-गठन, कथ्य एवं विषय की स्पष्टता, औपन्यासिक शिल्प एवं तकनीक के बारे में कोई बात करें तो उस विषय में कोई दूसरी बात की ही नहीं जा सकती। इसमें प्रतीक तथा बिंब-विधान एवं अलंकार योजना निस्सन्देह उच्चकोटि की है। अत: निष्कर्षत: यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि यह उपन्यास एक उच्चकोटि की रचना है और इसी लिए इसे भारतीय कथा साहित्य का ''महाभारत'' कहने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह एक कालजयी रचना है।

❖ ❖ ❖

पाद टिप्पणियां-

(1) हिन्दुस्तानी ज़बान, महात्मा गांधी मेमोरियल रिसर्च सेण्टर 7, नेता जी सुभाष रोड़, मुंबई 400002, जुलाई-सितंबर (अंक) पृ० 14-15

(2) वही पृ० 20-22

रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित उपन्यास "कौन किसका" : एक विश्लेषण

❑ मूल : (पं.) इछुपाल

उपन्यास साहित्य का ऐसा रूप है जो जीवन की संपूर्णता को प्रस्तुत करता है। सतही तौर पर उपन्यास का स्वरूप ऐसा है जिस की रचना-संरचना के विशेष नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते हैं। उपन्यास न संवादों में लिखी हुई लम्बी कहानी है, न ही कोई महाकाव्य! उपन्यास को कोई काल्पनिक कथा की तरह परिभाषित करता है और कोई आधुनिक कथा का रूपाकार कहता है। यह परिभाषाएं उपन्यास के सांझे गुणों की निशानदेही करती हैं।

नामबर सिंह के अनुसार "कैसी विडंबना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेज़ी लेखक कादम्बरी, कथा सरितसागर पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं के पीछे पागल थे और भारतीय लेखक अंग्रेज़ी तकनीक पर उपन्यास लिखने के लिए व्याकुल थे। यही उपनिवेशवाद के दो चेहरे हैं। उपन्यास एक ऐसी गद्य रचना है, जो वृत्तांत द्वारा मनुष्य जीवन को यथार्थ के साथ जोड़ती है।

नार्थरोप फराई के मत अनुसार "उपन्यास की विधि प्रमुख रूप में अनुकरणात्मक (Mimetic) है जिसमें पूर्व-पश्चिम पुराण-कथा (Myth) और रोमांस किस्से, परा-मनुष्यी (दैविय) अस्तित्व की आलौकिक गाथा प्रस्तुत की जाती है और न ही रोमांस कथा की तरह किसी असाधारण प्रतिभा वाले महा-नायक की आदर्श-प्रेरित कथा प्रस्तुत की जाती है। इसमें तो साधारण मनुष्यों को सामाजिक संस्थाओं और सांस्कृतिक कदरों-कीमतों को यथार्थवादी वातावरण में रखकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है।"

भारत में पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं की असीम समृद्धि और लोक-कथाओं की अपार विविधता के कारण भारत का भण्डार भरा हुआ है पर भारत में अंग्रेज़ों के आगमन के पश्चात् विकसित उपन्यास कला की समक्षता में नहीं आते हैं प्रथम रोमांटिक उपन्यास लिखने का प्रयास बंकिमचंद्र (1838-94) द्वारा किया गया था उन्होंने भारत में साहित्यिक नव जागृति का संचार भी किया। उनके हाथों सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर रोमांटिक कथाओं की रचना हुई।

भारत में उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं सदी के मध्य में तब हुआ जब ब्रिटिश सरकार द्वारा 1857 के बाद तीन बड़े विश्वविद्यालय कलकत्ता, मद्रास और मुंबई से अंग्रेज़ी नीति के बराबर में शिक्षा प्राप्त करके एक नया वर्ग पैदा हुआ।

वह वर्ग यूरोप की तरह आर्थिक विकास या औद्योगिक क्रान्ति दौरान पैदा हुआ वर्ग नहीं था बल्कि इस वर्ग (मध्यवर्गी) के दो किस्म के समुदाय थे। एक जमींदार वर्ग जो ब्रिटिश सरकार के कानूनों के अधीन अपना काम कर रहा था और अपने लिए कई सुविधाएं और सुख प्राप्त कर रहा था। यह वर्ग अंग्रेज़ीयत के प्रभाव के कारण पश्चिमी संस्कृति के प्रचार और प्रसार के लिए काम कर रहा था।

उपनिवेशवादी व्यवस्था में पैदा मध्यवर्ग का चरित्र यूरोप के मध्यवर्ग से अलग था इस काल का चरित्र यूरोप के मध्यवर्ग से अलग था इस काल का मध्यवर्ग संस्कृति और भारतीय परंपरा के बीच दबाव-तनाव और असामंजस्य का शिकार ज़्यादा था। गुरजरी प्रसाद मुखर्जी के अनुसार ''यह समाजिक विश्वास है-प्रगति में आस्था, व्यक्ति में आस्था, विवेक में आस्था और मनुष्य में आस्था, यह प्रवृत्तियां कमोपेश सम्पूर्ण आधुनिक भारतीय साहित्य में मिलती हैं। इस बात से सम्पूर्ण साहित्यिक चिंतक और रचनाकार लगभग सहमत हैं कि किसी भी दूसरी साहित्यिक विधा की तुलना में उपन्यास के रचनात्मक रूप से ज़्यादा समाज वृद्धि, इतिहास निर्भर और समय के अनुसार होती है भारत का इस समय का समाज उपनिवेशक सत्ता के अधीन था।

उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा थी-प्राधीनता से मुक्ति, इस लिए व्यक्तिक और सामूहिक, दोनों प्रयास ज़रूरी थे।

उपरोक्त उदाहरण के साथ-साथ हैल्फ फाक्स का उदाहरण भी उचित लगता है ''उपन्यास का विषय है व्यक्ति, यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है और यह केवल उस समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव ने अपने सहजीवी साथियों अथवा प्रकृति के साथ युद्ध ठान लिया हो।

पूंजीवादी समाज ऐसा ही समाज है। यह कहा जा सकता था कि भारत के अंदर उपन्यास के विकास की व्यापक भूमिका बन चुकी थी। इसमें कोई संशय नहीं है कि उपनिवेशक सत्ता का महत्त्वपूर्ण केंद्र भारत में कोलकत्ता (बंगाल) था। इसलिए मध्यवर्ग का विकास सबसे पहले यहां ही हुआ। यही कारण है कि भारत में दूसरी भारतीय भाषाओं की तुलना में उपन्यास का विकास बंगाल में ही हुआ। ध्यान देने वाली बात यह भी है और यह ऐतिहासिक सच्चाई भी है कि पत्र-पत्रिकाओं का पहली बार व्यापक पैमाने पर प्रचार और प्रसार बंगाल में ही हुआ।

बंकिमचंद्र चैटर्जी और रबीन्द्रनाथ टैगोर इस पृष्ठभूमि से उभरे दो महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार साबित हुए।

बंगला उपन्यास का जन्म 19सवीं शताब्दी के मध्य में बंकिमचंद्र चटोपाध्याय द्वारा लिखित रुहानी उपन्यास ''दुरगशनंदनी'' 1868 से माना जा सकता है जिसके फलस्वरूप 20सवीं शताब्दी में रबीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं के साथ हुआ है 1913 में 'गीतांजलि' के लिए नोबल पुरस्कार प्राप्त करना केवल रबीन्द्रनाथ टैगोर के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।

इस लेख में 'रबीन्द्रनाथ टैगोर' के एक उपन्यास 'कौन किसका' का विश्लेषण प्रस्तुत करना है उपन्यास ज़िंदगी की हकीकत को प्रस्तुत करता है उपन्यास भूपित बाबू और उसकी पत्नी चारू के इर्द-गिर्द के काल्पनिक संसार को बुनता है।

भूपित बाबू को कुदरत ने सारी सुख-सुविधाएं देकर इस संसार में भेजा था धन की कोई चिंता नहीं थी। भोग-विलास से वह कोसों दूर था। उसका एक शौक रसाले, अखबारों में लेख छपवाने का था। दूसरा लीडर बनने का, मौका देखकर वह भीड़ को चीर कर स्टेज पर चढ़ जाता भाषण देने लगता पैसे वालों को अक्सर स्टेज तो मिल ही जाती है।

भूपित बाबू की इस कमजोरी को भांपते हुए उनके साले उमापति जो वकालत करते थे पर तबीयत से शौकीन मिजाज़ के थे। उन्होंने भूपित बाबू को अपना अंग्रेज़ी का अखबार निकालने की सलाह दी। एक जवानी का जोश और पागलपन की सीमा तक पहुंचता हुआ शौक मिल जाए तो सब कुछ सम्भव है। वह अपना सब कुछ भूल कर अखबार के संपादक बन गए। भूपित बाबू की पत्नी चारूलता अभी छोटी उमर की थी। जब उसकी शादी हुई थी भूपित बाबू ने अपने साले उमापति और उसकी पत्नी मंदाकिनी को अपने घर में ही रख लिया था इस तरह उनकी पत्नी का मन भी लगा रहा कुछ समय बाद भूपित बाबू ने अपनी पत्नी की रुचि पढ़ने-लिखने की तरफ देखी और अपनी बूआ के लड़के अमल जो कालेज में पढ़ता था उसे घर बुला लिया और चारू के लिए वह ज्ञान का देवता बना।

उपन्यास में एक अहसास चारू के अकेलेपन और उनके खालीपन का है जो बार-बार शिद्दत के साथ महसूस किया जाता है। चारू और अमल सतही तौर पर हमउमर होने के साथ-साथ अपनी कल्पनाओं में रहते हैं। गर्मियों की शाम मंद-मंद चलती हवा में नीम के नीचे बैठ कर पढ़ना। वह कभी इस फुलवाड़ी को बढ़ाने की योजना बनाते, नया रूप, नया आकार देने के लिए कागज़ों को उड़ाते। अमल इस तरह उसके साथ-साथ रहता। वह चलाकी से बगीचे का एक नक्शा तैयार करता जो एक स्त्री की दृष्टि से सुंदर और मनोरंजक होता।

उसी हालत में मानवता के विरुद्ध वह संस्कृति को भी नकार देते इस उपन्यास में चारू का खालीपन जिसके लिए सतही तौर पर भूपित बाबू खुद जिम्मेवार हैं यह एक मैटाफर या रूपक है जो स्थितियों, पात्रों या प्रस्तुतीकरण के माध्यम से पूरे उपन्यास के काल्पनिक जगत

में खुलता और फैलता है, चाहे भूपित बाबू ने चारूलता के अकेलेपन को दूर करने के कई प्रयास किए थे। इस मैटाफर के केन्द्र में खालीपन या गुलामी का अहसास सारे उपन्यास में आत्मा की तरह व्यापक नज़र आ रहा है। चारूलता अमल के लिए रूमाल पर कढ़ाई करती है। मखमल की जूती पर भी कढ़ाई निकाल कर तैयार करती है और उसे एक अलग तरीके से प्रस्तुत करती है।

उपन्यास अनुसार–छत और फर्श अच्छी तरह से साफ किया हुआ था उस पर एक बड़ा थाल जिसे अच्छे रूमाल से ढका हुआ था अमल ने होठों पर जीव फेरते हुए, आते ही रूमाल उठा दिया इस रूमाल के नीचे खाना नहीं था पर मखमल की एक बड़ी सुंदर जूती थी। अमल पहले तो हैरान रह गया पर फिर शरमा कर हंसने लगा चारूलता ने कहा ''खा लो ना जी।''

आगे उपन्यास में भूपित बाबू अपने साले की सलाह के साथ अंग्रेज़ी का अखबार निकालता है और अखबार का सारा कर्ता-धर्ता उमापति (साले) का होना भाव कुछ संकेत तो दे जाता है। उमापति अखबार की कमाई के अतिरिक्त मुलाज़िमों का वेतन और प्रैस के खर्चे को एक बड़े कर्जे के नीचे ले आता है। भूपित बाबू इस घटनाक्रम से बेखबर हैं। उधर उमापति सारी कमाई अपने एक नए मकान पर खर्च करता है और अपना भविष्य संवारने के लिए प्रतिबद्ध है। चारूलता अमल के साथ मिल कर लेख भी लिखने लगती है और यह लेख अखबारों के साथ-साथ बड़ी पत्रिकाओं में छपते हैं। चारूलता अपनी ज़िंदगी के खालीपन से हट कर अमल की तरफ यूं झुकने लगती है मानो अमल ही उसकी ज़िंदगी का एक अहम हिस्सा हो, जब अमल मंदाकिनी के साथ उसके कमरे में जाकर उसे अपना नया लेख सुनाता है तो चारूलता मंदाकिनी को भी बुरा-भला कहती है दूसरी तरफ जब भूपित बाबू को पता चलता है कि उमापति ने कागज़ का बिल और कई खर्चे अदा नहीं किए हैं तो वह मानसिक तौर पर दुखी होता है पर सच्चाई यह थी कि उसने कभी किसी का बिल या मुलाज़िमों की पगार अदा नहीं की थी। भूपित बाबू ने सभी लोगों का कर्ज अदा कर दिया था और फिर उसके पास सिर्फ घर ही रह गया था। वह रहने के लिए चारूलता के पास आता है। पर चारू अमल के लिए पागल हो गई है। उमापति मंदाकिनी को लेकर अपने घर चला जाता है और वहीं वकालत करने लगता है। अमल का विवाह भूपित बाबू शहर के एक बड़े वकील की बेटी के साथ करवा देते हैं, और वह दोनों बाहर किसी ओर देश में चले जाते हैं यह स्थिति चारूलता के लिए दुखदायक होती है वह रात-दिन अपनी सोच में डूबी रहती है। उसके मन के अंदर एक ऐसी दुनिया बसी हुई दिखती है जो बिल्कुल खाली और एकांत है उसका मन सच्चे और आत्मिक प्रेम के लिए तड़पता है। भूपित बाबू अपने खालीपन के साथ और हारे हुए व्यक्ति की तरह चारूलता के पास जाते हैं। चारूलता खुद निराश है। वह भूपित बाबू पर क्रोधित होती है। चारूलता सोचती है कि यह अनहोनी, उसके आस्तित्व के साथ बनी हुई है। सब सुख होने के बावजूद उसका नकारा हुआ अपना व्यक्तित्व साया बनकर उसके साथ रहता है। जिस कारण उसका जटिल, एक समय में खाली और भरपूर अस्तित्व सारे उपन्यास के काल्पनिक जगत में प्रस्तुत हुआ है।

उपन्यास अनुसार–

अमल का पत्र नहीं आया कई दिनों से।

भूपित अमल का नाम चारू के मुंह से सुनकर चौंक गए पर उन्होंने जल्दी ही अपने मन की परेशानी को एक फीकी मुस्कुराहट के परदे के पीछे छुपा लिया और बोले–

–हां! पर। पिछले पत्र में उसने लिखा था कि वह पढ़ाई में बहुत व्यस्त है इसलिए समय नहीं मिला होगा।''

चारू ने कुछ पलों के लिए अपनी आत्मिक दुविधा को छुपा लिया पर आखिर तंग आकर बोली–

तार तो की होती। उससे–उसका सुख–समाचार मिल जाता सौ–दो–सौ रुपये की बात है। आजकल तो तू जानती है हमारा भाग्य तो पहले से ही सोया पड़ा है।

चारूलता अमल के प्यार में अपनी भावनाओं को दबाकर नहीं रख सकी। वह शिखर पर पहुंचती है तो उस आत्मिक मेल के समय उसके भीतर के चिह्न उभर आते हैं। वह ऐसे चिह्न हैं जो उसके अतीत के गुज़रे पलों के थे। वह उसे अब अपूर्ण और अतृप्त अस्तित्व का श्राप लगते हैं।

ज़िंदगी के व्याकरण को समझना है तो हमारे सामाजिक ढांचे, उसमें रिश्ते, विश्वास, भ्रम आदि को व्यवहारों से समझा जाता है। उस ग्रहण किए हुए को भाषा का व्याकरण या भाषक व्यवहार के माध्यम से लेखक फिर से संचारित करता है। या उपन्यासकार अपना काल्पनिक जगत बनाता है। मनुष्य शुरू से ही अपने सांस्कृतिक दायरे या परम्परा का गुलाम है। भूपित बाबू अपनी सारी कमाई चारूलता के भाई के हाथों लुटा कर पत्नी के आगोश में रहना चाहता है पर चारूलता केवल अमल के लिए चिंतित है। भूपित बाबू सोचते हैं कि प्रकृति उनके अभिमान और विचारों का मज़ाक उड़ाने पर तुली हुई है। चारूलता इसके विपरित अमल के प्रति चिंतित है उपन्यास अनुसार–

तार है आपका, मैं घर जा रहा था। अच्छा हुआ आप खुद रास्ते में ही मिल गए।''

भूपित ने डरते हुए तार लिया जैसे वह तार नहीं गर्म कोयला हाथ में पकड़ रहे हों।

तार विलायत से आया था और उत्तर था। उसमें लिखा था मैं राजी–खुशी हूं। अमल।''

भूपित हैरान हुए कि अमल को तार भेजने की क्या ज़रूरत थी कुछ पल विचार करने के बाद वह जब घर पहुंचे तो नौकर से पूछा तो उन्हें पता चला कि चारू ने अपने गहने गिरवी रखकर अमल को तार भेजा था और यह तार उसका प्रत्युत्तर है।

उस घटना से भूपित बाबू दुखी हुए। उपन्यासकार अपने यत्नों से एक समय में प्राप्त हुई पारम्परिक जीवन जांच के जरिये ज्ञान के पक्ष को भरता है। इसके साथ-साथ कई धारणाओं को भी खत्म करता है। यह सतही नियम इस उपन्यास के काल्पनिक संसार के आस-पास भी फैला हुआ है। सांस्कृतिक माहौल की अधीनगी और आजाद होने की वृति भी दिखती है उसका सम्बन्ध मनुष्य के अस्तित्व से है।

भूपित बाबू मैसूर में एक नये अखबार में काम करने के लिए मैसूर चले गए जहां से उनको बुलावा आया था। चारू रहने के लिए उसके साथ जाना चाहती है।

उपन्यास अनुसार-

बाबू जी ! मुझे साथ नहीं ले जाओगे।

नहीं! भूपित बाबू ने कहा,

''मुझे किसके सहारे छोड़ रहे हो, कौन है मेरा ?''

और भूपित ने चारू की आंखों से आंखें मिला कर कहा।

कौन होता है किसी का ?

इस उपन्यास का सफर संकटकालीन स्थिति तक चलता हुआ मनुष्य के अस्तित्व के खालीपन या अकेलेपन का गहरा अहसास भी अपनी पूरी शिद्दत से करवाता है उपन्यास के पात्र भूपित बाबू और चारूलता जो अंतरात्मा की गहराई तक जलते हुए मनुष्य हैं। मनुष्य का अपना अस्तित्व ही उसका आदि-अंत है। यही बात उपन्यास ''कौन किसका'' के मैटाफर या रूपक में धीरे-धीरे खुलती है। यह उपन्यास समकालीन दौर में भी एक प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है।

अनु० रितु कुमार शर्मा

◇◇◇

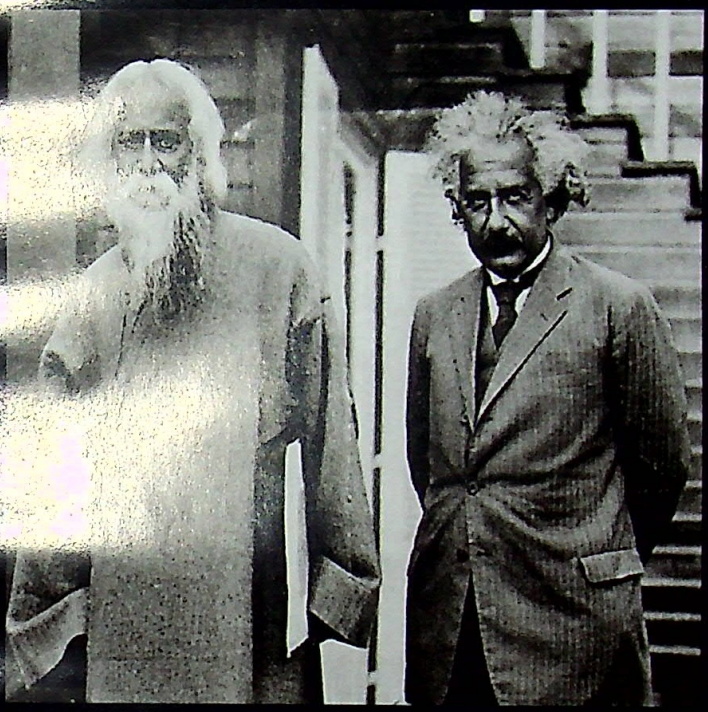

रबीन्द्रनाथ टैगोर तथा एलबर्ट आइंस्टीन, अगस्त 1941

आंखें देख नहीं पाती, सुनाया तो यह गीत सुनकर उनके पिता जी की आंखें छलक पड़ी थीं और उन्होंने उन्हें पांच-सौ रुपये का नकद इनाम दिया था। फिर जब वे विलायत गये तो नाच-गान और साहित्य की हर विधा का गूढ़ अध्ययन किया। अपने उस विदेशी प्रवास के दौरान उन्होंने कई नृत्य-नाटकों और गीत-नाटकों की रचना की। 1880-81 ई० में उन्होंने सांध्य-संगीत और प्रभात-संगीत नाम से गीत संग्रह छपवाये। जिन्हें बहुत सराहा गया। सात मई 1861 ई० को जन्में और अगस्त 1941 ई० को पंचतत्त्व में विलीन हो गए। देशी-विदेशी, रंग-बिरंगे नज़ारों की तस्वीरें आंखों में बसाने वाले और असंख्य गोरे-काले इन्सानों से मिलने-मिलाने वाले, अमर रचना 'गीतांजलि' के रचनाकार, अंग्रेज़ सरकार द्वारा सर की उपाधि से सम्मानित, प्रसिद्ध चित्रकार, उपन्यासकार, नाटककार, गीतकार, कवि और कुशल अभिनेता श्री रबीन्द्रनाथ टैगोर ने बाल-साहित्य के क्षेत्र में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा प्रकाशित ''रबीन्द्रनाथ का बाल साहित्य'' भाग एक और दो में छपी कवि-कथा से ज्ञात होता है कि उन्होंने शिशु और शिशु भोलानाथ नाम से कविता संग्रह और राजऋषि नाम से उपन्यास छपवाया। जिसे उन्होंने बाद में विसर्जन नाटक का रूप देकर छपवाया था। वैसे साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित इन दोनों संग्रहों में टैगोर की कविताएं, कहानियां, उपन्यास और नाटक कुल 18 रचनाएं हैं। इसी कवि-कथा से यह भी ज्ञात होता है कि बच्चों के लिए लिखी उनकी पहली कविता 'विष्टि पड़े टापुर-टुपुर' थी जो मेह बरसता टापर-टुपुर नाम से प्रकाशित हुई, जिसमें कवि ने वर्षा और आकाश पर छाये बादलों का ज़िक्र करते हुये कहा है-

''सारे आसमान में खेलें
मेघ, न सीमा है कहीं।
देश-देश खेलते डोलते,
कोई मना करे नहीं।
कितने नये फूल-वन इनसे
पाते हैं जल-दान मधुर।
नये-नये खेलों को पल-पल
सोच निकालें थे चतुर।
खेल देख मेघों के, कितने
खेल उमड़ते याद में।
और उन्हीं के संग मन जाता
बचपन के इस गान पर

मेंह बरसता टापर-टुपुर,

नदिया का पूर उठान पर।

इस कविता को पढ़कर लगता है कि गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा बच्चों के लिए रची इस कविता ने उनके सृजन रूपि अन्नभंडार का मुंह खोलने का काम किया और फिर क्या था दाने रूपि रचनाओं का ढेर लग गया।

अर्थात् उन्होंने बच्चों के लिए अनेकों रचनाएं रच डालीं। बाल-साहित्य के नाम पर इतनी रचनाएं रचने के पीछे एक तो उनका बच्चों के प्रति गूढ़ प्रेम था, जिसके माध्यम से वे उन्हें साहसी, धैर्यवान, ईमानदार, आत्मसम्मानी और सच्चे देशभक्त बनाना चाहते थे और दूसरा वे बच्चों को शिष्टाचार, भलाई, आपसी भाईचारा और सहनशीलता जैसे सद्गुणों की शिक्षा भी देना चाहते थे। यह सब तभी सम्भव हो पाया था जब उन्होंने बच्चों की मानसिकता को आत्मसात कर लिया था जैसे दाल नमक-मिर्च को या आटा पानी को आत्मसात कर लेता है। वे यह भी जानते थे कि बच्चों के कोमल मन को साहित्य किस प्रकार आनन्द दे सकता है। यह भी हो सकता है कि इस लेखन के पीछे बचपन में भूत-प्रेतों, राजे-रानियों या शेरों-मगरमच्छों और दूसरे जानवरों के बारे में सुनी मनोरंजन और शिक्षाप्रद कहानियां भी रही हों।

पर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस तरह की रचनाओं के पीछे अपनी जीवन संगिनी से बे-मौके बिछुड़ना, पूज्य पिता का स्वर्गवास, बेटी रेणुका और बेटे शमी का एक के बाद एक गहरा सदमा रहा होगा। इसके अतिरिक्त 1916 ई० में जलियांवाला बाग गोलीकांड में अनेकों निर्दोष और निहत्थे भारतवासियों की मृत्यु ने उन पर अविस्मरणीय प्रभाव डाला। जिस से दु:खी हो कर उन्होंने अंग्रेज़ सरकार द्वारा दी गई सर की उपाधि लाट साहब को विरोध के रूप में यूं लौटा दी थी जैसे गुरु द्रोणाचार्य ने अपने बाल सखा द्रुपद के घमंडी हो जाने पर उसका राज्य त्याग दिया था।

बच्चों के साथ गूढ़ प्रेम और उनके चहुमुखी विकास की चाहत के बारे में 'रबीन्द्रनाथ का कथा साहित्य' भाग-1 में कवि कथा में ज़िक्र आता है कि ''बच्चों के साथ उन्हें अपार प्रेम था। बच्चों को वे प्यार ही नहीं बल्कि उन पर विश्वास भी करते थे और उनका आदर भी। उन्हें नादान, अबोध और मूर्ख नहीं, बल्कि समझदार मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि सरल बनाकर समझाया जाए तो बच्चे कठिन-से-कठिन विषय को आत्मसात कर सकते हैं। बच्चों को डांटने-फटकारने के स्थान पर अगर उनके साथ खेला जाए और बातचीत की जाए तो उनके गुण उभर कर विकास पा सकते हैं। शान्तिनिकेतन के आश्रम में वे इसी सिद्धान्त पर चलते थे।

जैसे कि पहले बताया जा चुका है कि रबीन्द्रनाथ टैगोर जी को स्कूल जाना जेल जाने जैसा और बंद कमरे में बैठकर पढ़ना फांसी जैसा लगता था। तो उस पर आश्रित जीवन दौरान मौका मिलते ही उनकी आत्मा रूपि कोयल ने फेरी वाले या किसान को देखकर यह राग छेड़ दिया कि-

''अपने घर वाली गली से होकर
दस बजे जब जाता हूँ मैं शाला,
रोज़ देखता हूँ मैं : झाबा सिर पर
लेकर फेरी करता फेरी-वाला।

× × × ×

फिरता रहता मनमानी राहों पर,
जब चाहा घर जा खाना खा डाला।
दस बजे या साढ़े दस या ग्यारह,
जल्दी कभी न होती अथवा देरी।
मन करता है बस्ता-स्लेट पटक कर,
इसी तरह से भटकूं करता फेरी।''

या

''लिये हाथ में हंसिया-खुरपी,
सिर के ऊपर टोकरा
सांझ पड़े घर लौटा करता है
किसान का छोकरा।
देख-देख जी होता छटपट।
दुपहर को लगती अपनी रट,
हम पाटी लिखने में रहते,
गुरु जी बैठे ऊंघते,
मूर्ख बनूंगा ठनता जी मैं,
क्योंकि गीत गाते परती में
जाते गाड़ीवान, धूप की तपी
हवा को सूंघते।''

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सोच मनचाही मौज-मस्ती करने और सीधा-साधा पर मेहनती जीवन जीने के पक्ष में थी। वे राह में आने वाली रुकावटों को बकासुर समझ मिटा देने वाले जीवन के पक्षधर थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने पांचों बच्चों के पढ़ने की व्यवस्था घर पर ही की थी क्योंकि वे अपने बचपन के दिन भूले नहीं थे। उन्हें याद था कि स्कूल जाने में कितना दु:ख होता है।

अपने देश से उन्हें अपार प्रेम था। वे अपने देश के आदर्शों, भाषा और जनता का आदर करते थे। साथ ही वह बाहरी ज्ञान का भी स्वागत करते थे, चाहे वह कहीं से भी मिले।

विदेशियों के गुणों के प्रति वह श्रद्धावान रहे, पर विदेशियों की नकल करना उनके लिए घृणा का विषय था। अपने साहित्य और जीवन से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हमें न तो अपने अतीत की नकल करनी चाहिए और न गैरों के तौर-तरीकों की। हम जैसे हैं, सचाई से वैसे ही बनें रहें, तभी हम स्वस्थ और दृढ़ राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। ऐसी संस्कृति का जिसकी जड़ें तो देश की प्राचीन ज्ञान-भूमि में जमी रहें, पर उसकी हरी डालियां आज के युग-सूर्य की रश्मियां ग्रहण करने के लिए चारों ओर फैली हों। यही वजह है कि उनकी बाल कविताओं, कहानियों में धरती मां के लिए प्रेम, स्वतन्त्र रहने की कामना और एकता के सुरों सम्बन्धी सभी भाव पलाश के पत्तों की तरह आपस में मिले अपने-आप दिख जाते हैं। उनकी यह मंशा भी रहती थी कि बच्चे-बच्चे में यह भाव भर दिया जाए कि भारत हमारी जान है और एकता हमारी शक्ति है अपनी मातृ-भूमि के लिए गूढ़ प्रेम की तस्वीर उन्होंने इन शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त की है :

ओ मेरे देश की मिट्टी, तुझ पर सिर टेकता मैं।
तुझी पर विश्वमयी का,
तुझी पर विश्व-मां का आँचल बिछा देखता मैं।।
किंतु घुली है मेरे तन-बदन में,
कि तू मिली है मुझे प्राण-मन में,

.....

तुझी ने मेरे मुंह में कौर दिया
तुझी ने जल दिया शीतल, जुडाया, तृप्त किया,
तुझी में पा रहा सर्वसहा सर्ववहा माँ की जननी का पता मैं।।
बहुत-बहुत भोगा तेरा दिया माँ, तुझसे बहुत लिया-

भारत देश के वासियों की ऐतिहासिक पहचान करवाते हुए कवि ने लिखा है :

आये आर्य, द्रविड़, अनार्य, शक,
या चीनी प्राचीन,
हूण, मुगल, अफगान -हुए सब
एक देह में लीन।
अब पछांह ने भी खोले हैं द्वार,
सभी वहां से लाते हैं उपहार,

देंगे लेंगे, मिले मिलायेंगे
ज्यों नीर-क्षीर,
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

यह पंक्तियां इस रहस्य से पर्दा उठाती हैं कि यह धरती सिर्फ सफेद, काली, मुलायम, रेतीली या ईंट-पत्थरों वाली ही नहीं है, न ही पहाड़ों-मैदानों या भांति-भांति के पेड़-पौधों की जननी व पालक है बल्कि इसमें समुद्र को पी जाने वाली वृत्ति भी मौजूद है। तभी तो इसने बाहर से आने वाले आक्रमणकारियों को भी ऐसे अपने प्रेम में बांध लिया जैसे शहद चींटी को जकड़ लेता है और वह वहीं की हो जाती है। ऐसे ही देश प्रेम सम्बन्धी जो भाव ठाकुर साहब ने अपने बाल साहित्य में उभारे हैं, बच्चे उससे न सिर्फ प्रभावित ही होते हैं बल्कि उसका गुणगान करते हुए उस पर कुर्बान होने के लिए भी हमेशा तैयार रहने के लिए प्रेरित भी होते हैं। बच्चों की नस-नस में देश के प्रति प्रेम और उसकी रक्षा का संचार करवाने के लिए अपने अंदर वीरता का भाव जगाने वाले यह भाव कितने कारगर सिद्ध हो सकते हैं, इसका अंदाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है-

शम्भू काफी तगड़ा है इतना बलवान है कि हैरत होती है। एक बार कुम्भीरा के जंगल में उसे रीछ ने पकड़ लिया था। उसके पास बन्दूक नहीं थी। वह बस लाठी लेकर ही रीछ से भिड़ गया। जमकर लड़ाई हुई। शम्भू की लाठी की मार से रीछ की रीढ़ टूट गयी। उसमें उठने तक का साहस न रहा।''

या

''मिट्टी का गढ़ ढाने आये
राणा बड़े सवेर
'दूर रहो' कह कुम्भा गरजा,
मानो गरजा शेर।
''बूँदी नाम की यह अवहेला
मैं न सहूँगा यद्यपि अकेला
नकली गढ़-मिट्टी का ढेला-
हो न सकेगा ज़ेर।
दूर रहो।'' कह कुम्भा गरजा
मानो गरजा शेर।
दायां घुटना टिका भूमि पर,
साधे तीर-कमान,

डटा अकेला कुम्भा, रखने
को बूँदी की शान।
राणा की सेना ने घेरा,
पर कुम्भा ने पृष्ठ न फेरा-
गढ़ के सिंह द्वार ने हेरा,
कुम्भा का बलिदान
धन्य हुआ उसके लहू से
बूँदी गढ़ का मान।

रबीन्द्रनाथ टैगोर हर तरह का साहित्य रचने में सिद्धहस्त थे। वे जब प्रबुद्ध लोगों के लिए साहित्य सृजन करने लगते तो महाज्ञानी पंडित की तरह उनकी सोच अंतरयामी बनकर ऐसे विषय, प्रसंग और भाषा-शैली की फुहार बरसाती कि हर कोई पाठक, श्रोता आग बरसाती गर्मी में हिमखण्ड के शून्य डिग्री से भी नीचे वाले वातावरण में पहुँच जाने का आनंद महसूस करता और जब वे बाल साहित्य का सृजन करने लगते तो सच में ही एक भोला बच्चा बन जाते। उनके इस भाव की सटीक वकालत करती उनकी कविता 'छोटा बड़ा' है, जिसमें घर से डांट खाने पर या मोज मस्ती करने के पलों में पढ़ने का आदेश सुन कर ऐसे सिकुड़ जाता जैसे जरा-सी आंच से ही ऊन का धागा सिकुड़ जाता है पर उसके मन का घटोत्कच अपना शरीर बढ़ा, मौन रह कर यह सोच बम्हीरी घुमाता है कि कभी मैं पिता जी जितना बड़ा हो जाऊं तो :

फिर जो भैया पढ़ने में हों कच्चे,
पिंजरे में पोसें चिड़ियों के बच्चे,
तो मैं उनको वह-वह डाँट पिलाऊँ,
भैया, तुम कितने पाजी हो, नटखट।
'ऊधम छोड़ो, पढ़ो-लिखो सीधे से।'
बापू-जैसा होने तो दो झटपट।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे बाल साहित्य रचने में पूरी महारत रखते थे, विषय भाषा-शैली के सम्बन्ध में उनके सोचे-समझे विचार थे। वे अलग-अलग पात्रों के माध्यम से उत्सुकता जगाने और दूसरों की मदद करने सम्बन्धी बच्चों की रुचि को समझते थे। वे यह भी जानते थे कि राजे-महाराजाओं, शेर-चीतों और प्राकृतिक दृश्यों या देशभक्ति सम्बन्धी भाव भरने वाली छोटी कविताओं की सामग्री बच्चों को प्यारी होती है। छोटे-छोटे वाक्यों वाली वर्णनात्मक शैली की रचनाएं बच्चों के लिए रोचकता का कारण बनती हैं। वैसे तो बाल साहित्य रचने की सलाहियत उनके अंदर थी ही पर जब वे जमींदारी के काम से उत्तरी और पूर्वी बंगाल या उड़ीसा के देहातों में जाते और पद्मा नदी पर तैरते नाव-घर में रहते रहे तो वहां रहते हुए उन्होंने जीवन के कई रंग

देखे और महसूस किया कि हमारे कल के वारिस कैसे जीते हैं। इन बातों ने उन्हें अंदर तक झकझोर दिया और यही घुटन उनके मन समुद्र से भाप बनकर उड़ी जिसने सारे विश्व पर मानवतावादी ऐसी मलहम लगाई कि दुनिया हैरान रह गई।

रबीन्द्रनाथ टैगोर ने बच्चों के लिए छोटे-छोटे नाटक भी लिखे हैं। इन नाटकों में उन्होंने बच्चों को डांट-डपट कर पढ़ाने वाले शिक्षकों, कंजूसों, बिना सोचे-समझे हर बात पर विश्वास कर लेने वाले, दानी और राजकुमारों की पढ़ाई, उनके अहम और कुचालों की तस्वीरें उभारी हैं या हम यह भी कह सकते हैं कि उन्हें अपने इन नाटकों के माध्यम से बच्चों के कोमल मनों में दया, परोपकार, ईश्वर भक्ति, गुरु निष्ठा और लोक सेवा वगैरा के आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया है। अपने एक नाटक ''मुकुट'' में उन्होंने गुरु भक्ति और गुरु के अनादर की तस्वीर खींचते हुए दिखाया है।

ईसा खां नाम का सेनापति राजकुमारों को यह कला सिखाता है। राजधर नाम का एक राजकुमार उसे गुरु मानकर अपने पिता का सेवक मानता है। जबकि दूसरे राजकुमार उसे गुरु मानते हैं। लोहे की तरह सख्त और मंदबुद्धि राजधर नाम का छोटा राजकुमार महाराज यानि अपने पिता से कहता है।

राजधर : महाराज से मुझे कुछ नालिश करनी है.

महाराज : क्या हुआ है ?

राजधर : ईसा खां बार-बार मना करने पर भी मेरी मानहानि करते हैं। महाराज को इसपर विचार करना होगा।

ईसा खां : मानहानि किसी ने नहीं की। अपनी मानहानि तुम आप कराते हो। और भी तो राजकुमार हैं ? वे भी यह नहीं भूलते कि मैं उनका गुरु हूँ और मैं भी नहीं भूलता कि वे मेरे शिष्य हैं। इसलिए मान-अपमान का कोई सवाल नहीं उठता।

महाराज : सेनापति जी, अब हमारे कुमार व्यस्क हो गये हैं, और उनकी मान रक्षा तो हमें करनी ही होगी।

ईसा खां : जब महाराज ने मुझ से युद्ध विद्या सीखी थी, उस समय मैंने महाराज का कैसा सम्मान किया था ? राजकुमारों का उससे कोई कम सम्मान तो मैंने कभी नहीं किया।

राजधर : और कुमारों की बात मैं नहीं करना चाहता, पर .....

ईसा खां : चुप रहो वत्स। मैं तुम्हारे पिता से बात कर रहा हूँ। महाराज क्षमा करें राजवंश

का यह कनिष्ठ कुमार बड़ा होने पर मुंशी की तरह कलम तो चला सकेगा, पर तलवार इसके हाथों में शोभा नहीं देगी।

(युवराज और इन्द्रकुमार को दिखाकर)

इन्हें देखें महाराज! ये भी राज-पुत्र ही हैं। राजमहल को रोशन किये रहते हैं। इस छोटे से जायज़े से पता चलता है कि बच्चों का शुद्ध मन दूध की उस कड़ाही की तरह होता है जिस में कोई वस्तु डाल उसे बर्फी, कलाकंद, खोया या पनीर आदि का रूप दिया जा सकता है अर्थात् बच्चों के कोमल-निर्मल मन को जैसे कोई ढालना चाहे ढाल सकता है। उसे देश भक्त, देशद्रोही, इन्सान, शैतान, आस्तिक, नास्तिक आदि कुछ भी बनाया जा सकता है।

इस मर्म को समझकर ही टैगोर ने बाल-साहित्य की रचना करके उस कोमल पौध को ऋषियों की तरह वेदांती बनाने की कोशिश की थी पर हमारे कुछ साहित्यकारों ने उनकी उस मंशा को पहचानने में चूक कर दी और जिन्होंने पहचाना, उन्होंने उसे आगे बढ़ाने के बजाए अपने-आप को बाल साहित्यकार कहाने की जगह, स्थापित और प्रबुद्ध लेखक बनाने में सारी ताकत लगा दी। एक-दूसरे को घटिया स्थापित करने के लिए राजे-रजवाड़ों की तरह अपने-अपने गढ़, कोट और पुर या नगरों की स्थापना कर ली। उन्होंने यह पहचानने की कोशिश नहीं की कि बच्चे हमारा भविष्य हैं, सुनहरे कल की शान हैं। उनको जीव सुरक्षा के मूल मंत्र सिखाए जाएं ताकि मानवजाति पूरी तरह सुरक्षित हो जाए। वह शिक्षा चाहे जल स्रोत बचाने की हो, सांप-कीड़ों की रक्षा की हो या पेड़-पौधों को पालने सम्बन्धी हो, चाहे सामाजिक जीवन-चक्र को सक्रिय बनाने के बारे में हो। बच्चों के चहुमुखी विकास को बढ़ावा देने वाले बालसाहित्य की कमी होने का ही यह परिणाम है कि आज चाहे अपने बच्चों को गलियों-चौगानों, खेतों-खलिहानों, और जंगलों में साथियों के साथ खेलने, घूमने-फिरने और प्रेम-भाईचारा बढ़ाने की बजाए भांति-भांति के मंहगे-से-महंगे खिलौने या गेम्स ले दे कर कमरे में बंद कर एकांकी बना दिया है उनकी शारीरिक कसरतों को लगाम लगा कर उन्हें अनेकों बीमारियों का घर बना दिया है उनको ज़िंदगी का मीठा शहद रस चूसने और सारे सुख भोगने को जगह कड़वे और दर्दनाक अर्क पीने के लिए कुंभीपाक में धकेल-सा दिया है। उनकी संवेदनशील मानसिकता को क्रूरता के घेरों या आलस्य के अंधेरे कोनों में छुप जाने के लिए प्रेरित कर दिया है। काश विधाता फिर से किसी टैगोर को भेजे जो इन सब बुराइयों को इन्सानी बस्ती से कहीं दूर छोड़ आए और फिर से इस नई पौध को तिनकों-पत्तों से या बेकार चीजों के खिलौने बनाकर खेलने, दोस्तों-मित्रों के साथ कुश्ती करने, कबड्डी खेलने, जोर-अजमाइश करने और उछल-कूद करने के गुर सिखाए और दोस्तों के साथ हाथ मिलाकर चाबी घुमाकर खिलौनों के साथ खेलते हुए बैठकर रोते रहने वाले पाठ से निजात दिलाए।

अनु० सुनील दत्त शर्मा

❖ ❖ ❖

** विशेष–जम्मू-कश्मीर अकैडमी द्वारा गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर पर आयोजित सेमीनार में पढ़ा गया है।*

रबीन्द्रनाथ के नाटकों में संवेदनशीलता

❑ डॉ० वसुधा

रबीन्द्रनाथ अपने नाटकों के बारे में कहते हैं कि ''मैं नाटक नहीं लिख सका। वह मन मुझ में नहीं है। नाटक के मुख्य पिंड को तोल कर दिखाने की कला मुझ में नहीं है। मेरे नाटक में कल्पना लोक की छाया है। इस छोटे से कोने पर मेरा हक है।'' वैसे रबीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व में अनेकानेक रंग समाये हुए हैं, इसलिए उनकी प्रत्येक साहित्यिक कृति में विविध रंगों का मेल होता है। ध्वनि-प्रतिध्वनियों का संगीत होता है। मन को छू लेने वाली भावनाओं का खेल होता है।

उन्होंने अपने नाटक, कविता, कथा, संगीत, चित्र द्वारा जो-जो प्रकट किया असीम उत्कटता से किया। यह उनकी अपनी अनुभूति का प्रकटन होने के बावजूद उसका संवाद दुनिया के हर कोने में साथ हो गया। बचपन से ही उन पर अंग्रेज़ी, यूरोपीय, संस्कृत भाषा के श्रेष्ठ साहित्य का संस्कार हो रहा था। ठाकुर जी की हवेली में भारतीय संगीत कला को सम्मान दिया जाना था। उसके साथ 'बामल' गाने वाले लोक-कथाकारों की भी यहाँ जगह थी। यात्रा, पांचाली, कथकता, कीर्तन, कविगान जैसी लोक-कलाओं द्वारा उनको नाट्यकला की सहजता का परिचय मिला। इन लोक-कलाओं में ही उन्होंने अनुभव किया होगा कि भारतीय रंगभूमि कल्पनालोक से जुड़ी हुई है फिर भी जीवनाभिमुख है। यात्रा और पांचाली के कलाकार शब्द और अभिनय के बल पर महल से जंगल तक यूँ ही पहुँचते- चांदनी रात, नदी, बारिश का अनुभव देने। अनजाने में यह सहजता और अभिव्यक्ति का संस्कार बचपन में उन्हें मिला होगा।

नाटक लिखने से पहले रबीन्द्रनाथ को अपनी अंतरंग भूमि पर नाटक का अनुभव मिलता था। नाटक के पात्र अपनी जो बातें, सुख-दुख, द्वंद्व व्यक्त करना चाहते वह सब कुछ गीतों में, नृत्य में उनके मन में शब्दाकार लेता और फिर रंगमंच पर सजीव हो जाता। कोई अनुभव गीतों में प्रकट हो ऐसा जब उन्हें महसूस होता तब वे गीत लिखते, जो उनके सुर लेकर ही प्रकट होते। नाट्यलेखन से लेकर प्रस्तुति तक की पूरी प्रक्रिया में उनका पूरा सहयोग रहता। जिसमें संगीत निर्देशन और अभिनय भी शामिल था। यह सब केवल युवावस्था में नहीं अपितु विख्यात कवि, साहित्यिक चिंतक बनने के बाद भी जारी रहा। नाटक की भूमिका के अनुरूप वेषभूषा और रंगभूषा के साथ वे अभिनय करते। इस तरह नाटक के साथ एकाकार होना कला के प्रति उनकी निष्ठा थी।

उन्होंने सन 1881 में 'वाल्मीकि प्रतिभा' नामक का गीती-नाट्य लिखा। तब उनकी उम्र थी सिर्फ 20 साल। 25 फरवरी 1881 को जोराशांको हवेली के छत पर स्टेज बनाकर इस नाटक की

पहली प्रस्तुति हुई। जिसमें बीस साल के रबीन्द्रनाथ और हेमेन्द्रनाथ की 15 साल की बेटी 'प्रतिभा' ने सरस्वती की भूमिका निभाई। रबीन्द्रनाथ ने रंगमंच पर पहली बार अभिनय किया। इस नाटक के बारे में वे लिखते हैं, ''वाल्मिकी प्रतिभा'' यह काव्य ग्रंथ पढ़ने के लिए नहीं है। संगीत की यह एक नयी कसौटी है। अभिनय देखते समय उसे सुनना भी चाहिए, नहीं तो उसका आस्वाद असंभव है। यह ऑपेरा शैली में नहीं है। यहाँ नाट्यविषय का अभिनय सुरों की सहायता से करना है। स्वतंत्र संगीत की मधुरता यहाँ बहुत कम है। ''इस नाटक में ज्योतिदादा और उनके दोस्त अक्षयकुमार चौधरी का सहयोग था। फिर भी इस गीतिनाट्य में भविष्य में लिखे गए नाटकों के बीज मिलते हैं।

ज़िंदगी की विविध घटनाओं का अनुभव वे उत्कटता से लेते थे। पूर्वग्रहों से मुक्त रहकर, परंपरा द्वारा बनायी गयी आचार-विचारों की चौखट बेदखल करके ज़िंदगी के अनुभवों को महसूस करने की साधना वे निरंतर करते रहे। सन 1881 के कालखंड में अपना देश परंपरा और रूढ़ियों से ग्रस्त था। बहुविवाह और बाल विवाह रचे जाते थे, स्त्री परदे में रहती थी। परन्तु टैगोर परिवार में यह स्त्री ढोंग नहीं था।

'वाल्मिकी प्रतिभा' नाटक में संगीत को लेकर नया प्रयोग किया गया था। आवश्यकतानुसार रागप्रधान संगीत के साथ लोकसंगीत को जोड़ा गया था। इसके साथ नाट्यलेखन, अभिनय तथा रंगसज्जा के बारे में भी अलग तरह से विचार किया गया। इसलिए कह सकते हैं कि भारतीय प्रायोगिक रंगभूमि की शुरुआत उन्होंने की।

रबीन्द्रनाथ के नाटकों का केन्द्रीय विचार 'मुक्ति' होता है। मनुष्य सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजकीय जैसे अनेक बंधनों में जकड़ा हुआ है। इन बंधनों को तोड़ने का प्रयत्न करने वाले लोगों का संघर्ष रबीन्द्रनाथ के नाटकों की प्रेरणा बन गया। यहाँ 'मुक्ति' मतलब वास्तव से पलायन नहीं, अपितु अनिष्ट रूढ़ियों से मुक्त होना है। अपनी ज़िंदगी में उन्होंने 'सत्य' की तरह 'सौंदर्य' को भी महत्त्वपूर्ण मूल्य माना है। उनको मालूम था, भयग्रस्त होकर विविध दीवारों की आड़ में जीने वाला समाज सौंदर्य की अनुभूति नहीं ले सकता। निर्भय होकर नहीं जी सकता। ऐसे में धर्म, रूढ़ि, राजनीति की प्रबलता से मानवी जीवन जड़ और कुरूप हो जाता है। इस तरह की कुरूपता पर उन्होंने अपने साहित्य द्वारा ज़रूर आघात किया। सौंदर्य का आस्वादन वाले मन की निर्मिति अर्थात् मनुष्य की निर्मिति। एक कलाकार और कवि के रूप में उनका यह धर्म था।

रबीन्द्रनाथ के साहित्य द्वारा उनकी सोच-विचार का अनुभव मिलता है। उनको लगता है, नियति द्वारा विश्व का असीम फैलाव किसी कवि की तरह केवल अभिव्यक्ति के आनंद के लिए किया गया है। इसीलिए शीतल शरत और तड़पते ग्रीष्म की ओर वे किसी महाकवि की रचना के दो सर्गो की तरह देखते हैं। उनकी इस वृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला 'ठाकुरदा' उनके 'डाकघर', 'अचलायतन', 'राजा' जैसे नाटकों में हमेशा मिलता है। बंगला के 'यात्रा' नाटकों में विशिष्ट प्रसंगों पर भाष्य करने वाला 'विवेक' नामक पात्र होता है। यह कभी मार्गदर्शक, कभी उपदेशक, तो कभी सहानुभूति व्यक्त करता है। टैगोर जी के नाटकों में 'ठाकुरदा' ऐसी ही व्यक्ति रेखा है। व्यवहार की चौखट में रहने वालों को यह बूढ़ा पागल लगता है तो बच्चों को और बचपन

की जीवन विषयक उत्सुकता सजीव रखने वाले प्रौढों को अपनी खुशनुमा वृत्ति से यह चकित कर देता है।

'ठाकुरदा' की भूमिका रबीन्द्र जी स्वयं करते थे। यह ठाकुरदा अथवा बारुल रबीन्द्रनाथ की पसंदीदा वृत्ति के चित्र थे। इनके नाटकों में इस वृत्ति का जतन करने वाले प्रसंग आते हैं। यह उनका भाव विश्व था। बचपन में देखे हुए चित्र 'डाकघर' के 'अमल' द्वारा व्यक्त होते हैं। अपत्यहीन बुवाजी अमल को अपना बच्चा समझ कर अपने घर ले आती हैं। गांव का यह बच्चा शहर की चार दीवारी में कैद हो जाता है। प्यार से समझाने के बावजूद 'अमल' मृत्यु का पथिक बन जाता है। बुवा के पति उसे कहते हैं, ''अमलबाबू, तुम भी बड़े होकर पंडित बनोगे। बैठकर बड़े-बड़े ग्रंथ पढ़ोगे। फिर सब चकित हो जायेंगे। अमल व्याकुल होकर कहता है-''नहीं, नहीं चाचा, मैं आप के पांव पड़ता हूँ, मुझे पंडित नहीं बनना। चाचा, मैं पंडित नहीं बनूंगा..... मैं जो है..... सिर्फ देखता रहूंगा.... देखते हुए घूमता रहूंगा। हमारी खिड़की के पास बैठकर दूर के पहाड़ देख सकते हैं। मैं उन पहाड़ों को लांघ जाना चाहता हूँ।''

दुनिया में घटित विविध प्राकृतिक और मानवनिर्मित घटनाओं के पीछे छुपे रहस्य की उत्सुकता रबीन्द्र के मन में बचपन से निर्मित हुई। उनका बालमन अमल के रूप में इस नाटक में व्यक्त हुआ है। 'डाकघर' के बारे में उन्होंने लिखा है-''जब 'डाकघर लिखने बैठा तब अचानक मेरे मन में 'आवेग' के तरंग जाग उठे थे। यहाँ से जाने से पहले पृथ्वी की परिक्रमा करनी चाहिए। यहाँ के लोगों के सुख-दुख से परिचित होना चाहिये। इस नाटक में कथा नहीं है। यह एक गद्य लिरिक है।''

शिक्षा के नाम पर बच्चों के मन का विकास किस तरह ठहर गया है इसका चित्रण 'अचलायतन' नाटक में किया है। अपने शिष्यों को जबरदस्ती रटाने को विद्यादान समझना, उनको चार दीवारों में कैद करके रूक्ष कर्मकांड में लगा देना, पंच-महाभूतों के लीलानृत्य से उनको दूर रखना और खिड़की खोल कर प्रकाश देखने की इच्छा करने वाले बच्चे को श्वास रोक कर मारने का प्रायश्चित देना इस तरह बच्चों को जहाँ मुक्ति का आनंद मिलना चाहिये उन पाठशालाओं के किस तरह 'अचलायतन' हो गये हैं इसका चित्रण रबीन्द्रनाथ ने इस नाटक में किया है।

मुक्ति के विचार से स्वतंत्रता का विचार जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से राजा नाटक महत्त्वपूर्ण है। सन 1917 में लिखे गये नाटक में 'हमारे प्रदेश में हम सब राजा हैं यह लोकतंत्र का विचार रूपक द्वारा प्रकट हुआ है। इस नाटक का राजा प्रत्यक्ष रूप में 'रंगमंच' पर नहीं आता परंतु उसकी आवाज़ से उसका अस्तित्त्व महसूस होता है। राज वस्त्रों की खाल पहन कर अपने आप को राजा समझने वाला राजा, स्वार्थ के लिए सत्ता का दुरुपयोग करने वाला राजा इन के दरम्यान के संघर्ष का उत्कट चित्रण इस संगीत नाटक द्वारा हुआ है। इसके साथ प्रजातंत्र का प्रभावी चित्रण सोचने के लिए विवश करता है। गुलामी के कालखंड में भारत देश के लोग निष्प्रभ नहीं होंगे, परंतु खुश और उत्साहपूर्ण जीवन जीने वाले हिम्मत वाले लोग होंगे। इस तरह विश्वास की भावना व्यक्त हुई है।

मुक्ति की कल्पना का विकास संगीत नाटकों की तरह व्यंग्य शैली में लिखे गद्य नाटकों में भी हुआ है। बच्चों के मनोरंजन के लिए लिखे हुए नाटकों में उनके शिक्षकों पर भी टिप्पणी है। इसके साथ-साथ सामाजिक दंभ और रूढि पर लिखे गये प्रहसन हैं। जिसमें सामाजिक, धार्मिक और राजकीय जीवन की विसंगतियों पर टिप्पणी है। ध्यानमग्न गुरुदेव रबीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व से हम परिचित है, परंतु इन प्रहसनों द्वारा खिलखिला कर हंसने और हंसाने वाला व्यक्तित्व हमें दिखाई देता है। जीवन-प्रवाह को अवरोधित करने वालों पर अपने साहित्य द्वारा उन्होंने प्रहार किये हैं।

नाटक अनेक कलाओं का संगम है। रबीन्द्रनाथ के नाट्य प्रयोग में उनके अभिनय, साहित्य, संगीत, नृत्य के साथ नेपथ्य की कुशलता भी व्यक्त होती थी क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति में आत्मप्रकटीकरण को प्रधानता रहती थी।

संगीत की तरह नाटक की प्रस्तुति को लेकर वे सोचते रहते। एक बार लिखे गये नाटक में बार-बार सुधार करते। नए गीत रचते। संगीत में परिवर्तन करते प्रा. गुहा ठाकुरता के अनुसार- 'उन्होंने दर्शकों के लिये नाटक नहीं लिखे परंतु अपने नाटक के लिए दर्शक तैयार किये।' इतना ही नहीं नाटक के लिए अभिनेता भी तैयार किये। व्यावसायिक रंगभूमि के किसी प्रसिद्ध अभिनेता की सहायता नहीं ली। जोराशांको हवेली के ठाकुर परिवार, उनके मित्र-परिवार तथा शिक्षकों को भी अपने संगीत, नृत्य और अभिनय के खेल में उन्होंने शामिल किया। खुद भी उनके साथ रहे। नाटक की तालीम लेने के लिये कोई भी आ सकता था। पाठशाला के बच्चों से लेकर शांतिनिकेतन में रहने वाले दादा-दादी भी आ सकते थे।

रबीन्द्रनाथ के नाटक कलात्मक सौंदर्य का और आनन्द का अनुभव देते थे, परन्तु सामाजिक प्रबोधन का कार्य भी करते थे। 'विसर्जन' नाटक की कथा प्रेम और शौर्य से संबंधित है। मन्दिर में बलि दिए हुए पशु की रक्तधारा देखकर बालिका पूछती है-इतना खून क्यों ? इस प्रश्न से राजा के मन में विश्व प्रेम का अविर्भाव हुआ। राजा के आदेश से मंदिर में पशुबलि निषिद्ध हो गयी। इस घटना का अवलम्बन लेकर नाटक की ट्रॅजडी प्रभावी होती है। मन्दिर का पुरोहित रघुपति राजा के आदेश का विरोध करता है। रानी, मंत्री, राज्य के आदिवासी संस्कारवश रघुपति के समर्थक बनते हैं। प्रेम और देवता की शक्ति के द्वंद्व से राजा का मन विदीर्ण होता है। जनता के मन में प्रेम नहीं, भय था और आतंक था और रघुपति अपना अहंकार छोड़ने को तैयार नहीं था। दुखी मन से राजा कहता है-महादेवी, इस संसार में विनय कहां ? जो लोग तुम्हारे आश्रय में रहते हैं उन्होंने भी विनय नहीं सीखा। कितने क्षुद्र हैं ? तुम्हारी महिमा का हरण करके अपनी देह पर उसे धारण करना चाहते हैं। कितना अहंकार है उन्हें ?'' अंत में रघुपति का अहंकार नष्ट हो जाता है और उसके मन में प्रेम की धारा फूटती है। परन्तु उसके लिए रघुपति के पालित-पुत्र जय सिंह को अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ता है। राजा-रानी का मेल होता है और नररक्त सेवी जड़ पाषाण देवता को रघुपति स्वयम् विसर्जित करके उसके स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा करता है। इस नाटक में रघुपति की भूमिका लेखक स्वयम् करते थे, मानो मनुष्य का अंत: करण विकसित करना ही उनका ध्येय था।

गुरुदेव की लेखनी निरंतर चल रही थी। उम्र के 75 वें साल में उन्होंने 'चित्रांगदा' नृत्यनाट्य लिखा। नाट्यरूप होने के बावजूद वस्तुत: वह काव्य है। इस नाटक का अनुभव उसे संगीत और नृत्य के साथ साकार होते हुए देखने में है। कहते हैं यह नाटक सात दिनों में लिखा गया। इस नाटक में संगीत, नृत्यकला और अभिनय की कसौटी है। यह नाटक बारह वर्षों तक अज्ञातवास में घूमनेवाले अर्जुन और किसी वीरयोद्धा की तरह पली-बढ़ी मणिपुर की राजकन्या चित्रांगदा के प्रणयप्रसंगों पर आधारित है। रूप-दर्शन से निर्मित प्रणय से अरूप सत्य के सौंदर्य की अनुभूति तक की यात्रा इस नाटक में चित्रित की गई है। अंतिम दृश्य में अर्जुन को आत्म परिचय देते हुए वह गर्व से घोषित करती है-''मैं देवी नहीं, सामान्य नारी भी नहीं, मैं तो चित्रांगदा हूं। मैं ऐसी नहीं हूं, जिसको तुम पूजनीय बना के रख सको और न ऐसी हूँ, जिसकी तुम अवहेलना कर सको। यदि तुम संकट के मार्ग पर मुझे अपना साथी बनाओ, यदि दुरूह चिन्ता का कुछ भाग मुझे भी वहन करने दो, यदि अपने कठिन व्रत में सहायता पहुँचाने के लिए मुझे अनुमति दो, यदि तुम अपने सुख-दुख की मुझे सहचरी बनाओ, तभी तुम मेरा परिचय पा सकोगे।''

यह स्वर पौराणिक नारी का नहीं, आधुनिक नारी का है। इस आधुनिक नारी की कीर्ति से परवर्ती रबीन्द्र साहित्य पूर्ण है। 'चित्रांगदा' में उसका अविर्भाव है इसलिए यह एक श्रेष्ठ नाटक है।

❖ ❖ ❖

रबीन्द्रनाथ टैगोर बहुमुखी प्रतिभा के धनी

❑ नरेश कुमार 'उदास'

रबीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई 1861 को देवेन्द्र नाथ टैगोर (पिता) तथा शारदा देवी (माता) के घर कोलकता के जोरासांको ठाकुरबाड़ी में हुआ था। यह एक संपन्न बाँग्ला परिवार था। रबीन्द्रनाथ टैगोर की पढ़ाई प्रतिष्ठित सेंट जेवियर स्कूल में हुई। टैगोर ने बैरिस्टर बनने की चाहत में 1878 में इंगलैंड के ब्रिजटोन पब्लिक स्कूल में नाम दर्ज करवाया। इन्होंने लंदन कालेज (विश्वविद्यालय) में कानून का अध्ययन भी किया, लेकिन यह 1880 में बिना डिग्री हासिल किए ही वापिस लौट आए। रबीन्द्रनाथ टैगोर को बाल्यकाल से कविताएं-कहानियाँ लिखने का बेहद शौक था। इन के पिताश्री एक जाने-माने समाज सुधारक थे, वह यही चाहते थे, कि उन का यह पुत्र बैरिस्टर बने। तभी तो उन्होंने टैगोर को लंदन भेजा था। लेकिन टैगोर का मन कानून की पढ़ाई में नहीं, अपितु साहित्य में अधिक रमता था। वह अपनी भाव-अनुभूतियों को कागज़ पर उतारते रहते। इसलिए उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने वापिस भारत बुला लिया था। लेकिन टैगोर तो प्रकृति के चितेरे थे। वह भारत आकर लेखन कार्य में रमते चले गए।

रबीन्द्रनाथ टैगोर एक सफल साहित्यकार, संगीतकार, चित्रकार, नाटककार और निबंधकार थे। भारत में टैगोर ने 1880 के दशक में कविताओं की अनेक पुस्तकें प्रकाशित करवाई तथा मानसी (1890) की रचना भी कर डाली। यह संग्रह उन की प्रतिभा का तथा उनकी परिपक्वता का परिचायक सिद्ध हुआ। इसमें उनकी कुछ सर्वश्रेष्ठ कविताएं शामिल हैं, जिनमें से कई बांग्ला भाषा में अपरिचित नई पद्य शैली में हैं। साथ ही इन रचनाओं में समसामायिक बंगालियों पर कुछ सामाजिक और राजनैतिक व्यंग भी निहित हैं। रबीन्द्रनाथ टैगोर पारंपरिक ढांचे के लेखक नहीं थे। वह एक मात्र ऐसे कवि हैं जिनकी दो रचनाएं दो देशों का राष्ट्रगान बनीं। भारत का राष्ट्रगान ''जन-गण-मन'' और बाँग्लादेश का राष्ट्रीयगान ''आमार सीनार बांग्ला'' गुरुदेव टैगोर की ही रचनाएं हैं। वह वैश्विक समानता के पक्षधर थे। ब्रह्मसमाजी होने के बावजूद भी उन का दर्शन एक अकेले व्यक्ति को समर्पित रहा। वह ऐसे लोक कवि थे जिन का केन्द्रीय तत्त्व अन्तिम आदमी की भावनाओं का परिष्कार करना था। वह ऐसे कलाकार थे, जिन की रगों में शाश्वत प्रेम की गहरी काव्यानुभूति थी। वह एक ऐसे नाटककार रहे जिनके रंगमंच पर सिर्फ 'ट्रेजडी' ही ज़िंदा नहीं, बल्कि मनुष्य की गहरी जिजीविषा भी है। उनके भीतर का कथाकार अपने आसपास के कथा लोक को ही चुनता तथा बुनता। आज उसका उद्देश्य घनीभूत पीड़ा की आवृति करे या उसे ही अनावृत करे, बल्कि वास्तव में वह आदमी के अन्तिम गंतव्य की तलाश भी करता है।

टैगोर विद्यार्थियों के साथ

सियालदह और शजादपुर स्थित अपनी खानदानी जायदाद के प्रबन्धन के लिए 1891 में टैगोर दस वर्ष तक पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांगला देश) में रहे। वहां वह अक्सर पद्मा नदी (गंगा नदी) पर एक हाउसबोट में ग्रामीणों के सम्पर्क में रहे। उन ग्रामीण लोगों की निर्धनता तथा पिछड़ेपन ने टैगोर को गहरे तक सम्वेदनात्मक स्तर पर उद्वेलित किया, तत्पश्चात् यह विषय उनकी रचनाओं का मूल स्वर बनकर सामने आए। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में दीन-हीन लोगों का जीवन और उनके दुख-दर्द वर्णित हुए हैं। 1890 के बाद की कुछ रचनाओं में मार्मिकता में हल्का सा विडंबना का पुट भी देखा जा सकता है जो उनकी निजी विशेषता भी है। गल्पगुच्छ की तीन जिल्दों में उनकी चौरासी कहानियां संग्रहीत हैं। जिन में प्रतिनिधि कहानियाँ चुनना अति कठिन कार्य है। 1891 से 1895 तक (पांच वर्षों) का समय रबीन्द्रनाथ टैगोर की साधना का महाकाल कहा जा सकता है। वे अपनी कहानी सबुज पत्र (हरे पत्ते)पर छपाते थे। आज भी पाठकों को उन की कहानियों में हरे पत्ते, और 'हरे गाछ' मिल सकते हैं। उनकी कथाओं में सूर्य, वर्षा, नदियां, नदी किनारे के सरकंडे, वर्षा ऋतु का आकाश, छायादार गाँव, हरे-भरे फसलों से भरे खेतों का वर्णन मिलता है। उनकी कहानी 'पोस्टमास्टर' इस बात का सजीव उदाहरण है, एक सच्चा साहित्यकार साधारण उपकरणों से कैसी अदभुत सृष्टि उत्पन्न कर सकता है। इस का प्रमाण यह कहानी है। कथा में केवल दो साधारण से पात्र हैं। कम घटनाओं से भी वह कहानी अति महत्त्वपूर्ण बना डालते हैं। एक छोटी लड़की कैसे बड़े-बड़े इन्सानों को अपने स्नेहपाश में बांध लेती है। वहीं उनकी एक और कहानी का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा। यह कहानी भी साधारण आदमी को लेकर बुनी असाधारण कथा है। इन की कहानियों में अनपढ़ काबुलीवाला, और संस्कृत बंगाली भूत भावनाओं में एक समान है। काबुलीवाला, मास्टर साहब और 'पोस्टमास्टर' कहानियां आज भी अति लोकप्रियता के सोपान पर सजी हैं। यह कहानियां सर्वश्रेष्ठ एवं लोकप्रियता प्राप्त कथाएं हैं। इनकी कहानियों को पढ़कर पाठक द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। इनकी कहानियों में फौलाद को मोम बना देने की क्षमता पाई गई हैं। 'अतिथि' का तारापद रबीन्द्रनाथ की अविस्मरणीय कृतियों में हैं। इसका नायक वहीं बंधकर नहीं रह पाता। आजीवन 'अतिथि' ही बना रहता है। क्षुधित पाषाण, आधीरात में (निशीथे) तथा मास्टर साहब प्रस्तुत संग्रह की इन तीन कहानियों में देवीतत्त्व का स्पर्श अनुभूत होता लगता है। इनमें पहली 'क्षुधित पाषाण' में कलाकार की कल्पना अपने सुन्दरतम रूप में व्यक्त हुई है। यहाँ अतीत-वर्तमान के साथ वार्तालाप करता है। रंगीन अतीत के साथ नीरस वर्तमान है। समाज में महिलाओं का स्थान तथा नारी जीवन की विशेषताएं उनके लिए गम्भीर चिंता का विषय थे। इस विषय में भी उन्होंने गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है।

राष्ट्रगान (जन-गण-मन) के रचयिता टैगोर को बंगाल के ग्राम्यांचल से प्रेम था। जिन की छवि उनकी कविताओं में बार-बार उभर कर आती है। सोनारतरी (1894) (सुनहरी नाव) तथा 'चित्रांगदा' (1892) उल्लेखनीय हैं। टैगोर वास्तव में सभी वर्गो के जनप्रिय साहित्यकार थे। इन्हें संगीत में भी बेहद रुचि थी। आज भी इन के जनप्रिय 2000 से अधिक गीतों में वह भाव जिंदा है। जो 'रबीन्द्र संगीत' के नाम से जाने जाते हैं। टैगोर की कविताओं की पाण्डुलिपि सबसे पहले

विलियम रोथेन स्टाइन ने पढ़ी थी। इसे पढ़कर वह बेहद प्रभावित भी हुए थे। उन्होंने अंग्रेज़ी कवि 'यीट्स' से सम्पर्क किया तथा पश्चिमी जगत के लेखकों, कवियों, चित्रकारों और चिन्तकों से टैगोर का परिचय भी करवाया। उन्होंने ही इण्डिया सोसाइटी से इसके प्रकाशन की व्यवस्था करवाई। इसके बाद में मार्च 1913 में मेकमिलन एण्ड कम्पनी लंदन ने इसे पुन: प्रकाशित किया। 13 नवम्बर 1913 को नोबल पुरस्कार की घोषणा से पहले इसके दस संस्करण छापने पड़े। बाद में 'गीतांजलि' का अनुवाद जर्मन, फ्रैंच, जापानी, रूसी आदि विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में हुआ। नोबेल पुरस्कार मिलने से टैगोर की ख्याति दुनिया-भर में फैली।

1912 में टैगोर ने लम्बी अवधि भारत के बाहर बिताई। वह यूरोप, अमेरिका, पूर्वी एशिया देशों में व्याख्यान देने गए तथा वहाँ काव्यपाठ भी किया। वह भारत की स्वतंत्रता के प्रमुख प्रवक्ता भी रहे। हालांकि टैगोर के उपन्यास उनकी कविताओं और कहानियों जैसे असाधारण नहीं है लेकिन फिर भी उल्लेखनीय हैं। इन में सब से ज़्यादा लोकप्रिय हैं 'गोरा' (1990) और घरे-बाइरे (1916) 'घर और बाहर' 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध में टैगोर ने चित्रकारी भी शुरू की तथा कुछ ऐसे चित्र भी बनाए जिन्होंने उन्हें समकालीन अग्रणी भारतीय कलाकारों में स्थापित कर दिया।

भारत के राष्ट्रगान के प्रसिद्ध रचयिता रबीन्द्रनाथ टैगोर जो बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, की मृत्यु 7 अगस्त 1941 को कोलकात्ता में हुई थी।

हिमालय जैवसम्पदा प्रौद्योगिकी
संस्थान, पालमपुर-176061
(हि० प्र०)

रबीन्द्रनाथ टैगोर का संगीत को योगदान

❑ ब्रह्मस्वरूप सच्चर

हमारा देश भारत एक विशाल तथा संस्कृति समृद्ध देश है। इस संस्कृति को भारतीय संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस संस्कृति को सिर्फ भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में जाना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

संस्कृति कला और साहित्य का संगम है और हर समाज को जीवित रखने के लिए अपनी भूमिका निभा रही है। भारतीय संस्कृति भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है जिसे कभी भी समाज से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह लोगों के रहन-सहन के साथ किसी-न-किसी रूप से जुड़ी हुई है।

इस संस्कृति को ज़िन्दा रखने के लिए भारत के साहित्यकारों तथा कलाकारों का बड़ा योगदान है जिन की कड़ी मेहनत से यह पूरे विश्व में शान से जी रही है। इस संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है भारतीय संगीत जिसके सुर-ताल मानव की आत्मा का आहार हैं, भारतीय संगीतकारों ने अपनी कड़ी मेहनत से इसका नाम पूरे विश्व में रोशन किया जिसे हर भारतवासी को गर्व है।

इन संगीतकारों में श्री रबीन्द्रनाथ टैगोर जी का नाम बड़े आदर-सत्कार से लिया जाता है। उन्होंने संगीत की इतनी सेवा की कि आज भी उन के इस क्षेत्र में योगदान को याद किया जाता है और सराहना की जाती है। इसी योगदान के फलस्वरूप इन्हें गुरुदेव की उपाधि से सम्मानित किया गया है।

श्री टैगोर सिर्फ संगीतकार ही नहीं थे। वह जाने-माने लेखक, कवि और चित्रकार भी थे। इन्हें साहित्य की सब विधाओं पर महारत हासिल थी। इन्होंने 2000 से अधिक गीत लिखे जो आज भी रबीन्द्र संगीत का एक अभिन्न अंग हैं। यह संगीत बंगाल की संस्कृति में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

यहां पर यह कहना गलत नहीं होगा कि रबीन्द्र संगीत टैगोर साहित्य का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंग है। इन के बहुत से नावल, कहानियां और नाटक संगीत में अपनी खास पहचान रखते हैं। इस साहित्य की खुशबू रबीन्द्र संगीत में आती है। इसका उदाहरण हैं दो देशों के राष्ट्रगीत। पहला भारत

का जन, गन, मन और बंगलादेश के अमार सोनार बांगला हैं। यह गीत मनुष्य की आत्मा पर सीधा प्रभाव डालते हैं और यह गीत हमेशा के लिए अमर हैं।

60 वर्ष की आयु में टैगोर जी ने चित्रकला शुरू की। इन की चित्रकला की प्रदर्शनी की पूरे विश्व में सराहना हुई। खासतौर पर इन की प्रदर्शनी को फ्रांस के शहर पैरिस में सराहना मिली। इस के बाद पूरे विश्व में इन की चित्रकला को मान्यता मिली। चित्रकला में टैगोर जी के रंग भरने का खास ही अन्दाज़ था। लोग इन के चित्रों में रंग भरने की कला से काफी प्रभावित हुए। इसके इलावा इन्हें लकड़ी की चित्रकला में काफी महारत थी जिसे बड़ी मान्यता मिली।

खोज-पड़ताल करने के बाद पता चला है कि रबीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय शास्त्रीय संगीत से काफी प्रभावित थे। इसी कारण शास्त्रीय संगीत का प्रचार बंगाली संस्कृति में प्राचीन समय से चलता आ रहा है। श्री टैगोर जी का सम्बन्ध बंगाल से था इसलिए शास्त्रीय संगीत का प्रभाव उन पर बहुत ज़्यादा था। आज भी बंगाल में शास्त्रीय संगीत का उच्च स्थान है और इस क्षेत्र ने भारत को उच्च कोटि के शास्त्रीय संगीतकार दिये जिन्होंने पूरे विश्व में भारत का नाम रोशन किया। इन में पं. रविशंकर, उस्ताद विलायत खाँ और श्री वी. जी. जोग के नाम उल्लेखनीय हैं। यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रभाव रबीन्द्रनाथ टैगोर पर रहा। इसलिए रबीन्द्र संगीत में शास्त्रीय संगीत के स्वर मिलते हैं।

यह भी पता चला है कि भारत के लोग-संगीत का प्रभाव भी रबीन्द्र संगीत पर है। खास तौर पर डोगरी लोक संगीत के स्वर रबीन्द्र संगीत में मिलते हैं। इसका कारण यह भी है कि शास्त्रीय संगीत में डोगरी लोक संगीत के स्वर विद्यमान हैं इसीलिये रबीन्द्र संगीत पर डोगरी लोक संगीत का प्रभाव जान पड़ता है। यहां से यह अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि श्री रबीन्द्रनाथ टैगोर शास्त्रीय तथा लोक संगीत दोनों से प्रभावित थे।

रबीन्द्र संगीत का प्रभाव बंगाली संस्कृति पर बहुत ज़्यादा है और इस संगीत के गीत बंगाली संस्कृति का एक खज़ाना माने जाते हैं। रबीन्द्र संगीत बंगाली संस्कृति का एक अटूट हिस्सा है। इस संगीत के स्वर और ताल में रूहदारी का बड़ा ही महत्त्व है जिसके कारण यह स्वर इन्सान के दिलों को छू लेते हैं जिस का एक अपना ही आनन्द होता है।

धन गोपाल मुकर्ज़ी ने अपनी किताब Caste and out caste में भी रबीन्द्रनाथ टैगोर जी के गीतों के बारे में कहा है कि इनके गीत मानव को किसी दूसरे अद्‌भुत से वातावरण में ले आते हैं। जिससे वे स्वयं को ही कलाकार समझना शुरू कर देता है। इन के गीतों में अमीर, गरीब, छोटे, बड़े सब का उल्लेख है।

श्री टैगोर पहले व्यक्ति थे जिनकी सोच अनुसार सिनेमा की भी अपनी भाषा होनी चाहिए। उस भाषा में शब्दों का प्रयोग बहुत कम हो और संगीत का अधिक हो। इस बात से प्रभावित होकर कई फिल्म निर्माताओं ने टैगोर जी के गीतों की सहायता ली। जिन में सत्यजीत रे, मृणाल सेन,

नितिन बोस, तपन सिन्हा और कुमार साहनी के नाम लिए जा सकते हैं।

भारत में लगभग रबीन्द्र संगीत के 23 गायक हैं जिनमें किशोर कुमार और आशा भोंसले काफी लोकप्रिय हैं। बांगलादेश में भी रबीन्द्र संगीत का काफी प्रचार-प्रसार है।

भारत में रबीन्द्र संगीत सिखाने वालों के कुछ नाम इस प्रकार हैं:

1. धीनेन्द्र नाथ टैगोर

2. शान्त देब घोष

3. रूमा गोहा ठाकुरता

4. सुचित्रा मित्रा

5. कानिक बन्दोपाध्याय

6. नीलिमा सेन

इसी तरह बंगला देश में रबीन्द्र संगीत सिखाने वालों के नाम हैं:

1. अब्दुल अहद

2. अनिसुर रहमान

3. अब्दुल बाहिद

4. रिज़वाना चौधरी

5. वहीदुल हक्क

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रबीन्द्र नाथ टैगोर जी ने अपनी शिक्षा के साथ दूसरों को भी रबीन्द्र संगीत की शिक्षा दी। जिससे रबीन्द्र संगीत के कलाकार उत्पन्न हुए और इस संगीत को प्रोत्साहन मिला। इस संगीत को बढ़ावा देने के लिए भी रबीन्द्रनाथ टैगोर कार्यरत थे। जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

अन्त में हम यह साफ तौर पर कह सकते हैं कि श्री रबीन्द्रनाथ टैगोर जी ने भारत का नाम पूरे विश्व में रोशन किया।

❖ ❖ ❖

गीतांजलि में दार्शनिकता

❑ मंगलदास डोगरा

भारतवर्ष की इस पावन-पवित्र धरती पर अनादी काल से ही समय-समय पर अनेकों ऋषियों, मुनियों, अवतारों, पीरों, फकीरों, पैगम्बरों, गुरुओं, चिन्तकों, विचारकों, दार्शनिकों और बुद्धिजीवियों ने जन्म लिया और बड़े होकर अपनी बल, बुद्धि तथा सेवा और साधना द्वारा सारे विश्व को प्यार, शान्ति और भाईचारे का सन्देश दिया। यहां पर ऐसी महान आत्माओं ने जन्म लिया जिन्होंने बड़े होकर अपना नाम विश्व-भर में रोशन किया और भारत का यश सारे संसार में फैलाया। इसीलिये भारत को विश्व गुरु माना जाता है। भारत के इन्हीं महान और विश्व विख्यात लोगों की श्रेणी में बंगाल में श्री देवेन्द्रनाथ के घर एक महान आत्मा ने मई 1861 को जन्म लिया। इन का नाम था रबीन्द्रनाथ टैगोर। बड़े होकर इन्होंने साहित्य की तमाम सीमाएं लांघते हुए ऐसा साहित्य रचा जिस में न केवल इन का यश सारे विश्व में फैला, अपितु भारत का सम्मान भी सारे विश्व में फैला। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्व में उच्च ही नहीं सर्वश्रेष्ठ कोटि के साहित्यकार, कवि, चिन्तक, विचारक और दार्शनिक थे। इन्होंने साहित्य की तमाम विधाओं में साहित्य रचा और सारे-का-सारा साहित्य इन्होंने अपनी मातृभांषा बंगला में ही रचा। गीतांजलि गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की अमर रचना है जो उन्होंने उस समय लिखी जब अंग्रेज़ों ने भारत की छवि को बदनाम करने का प्रयास किया था और भारत और भारतीयों, हमारी सभ्यता और संस्कृति को अपनी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के मुकाबले में घटिया बता रहे थे। ठीक उसी समय गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर ने धर्म, दर्शन, इतिहास, कविता, गीत, संगीत, कहानियां, उपन्यास, नाटक, शिक्षा और बाल साहित्य की रचना कर न केवल भारत की गिरती हुई छवि को सम्भाला बल्कि इस का यश सारे विश्व में फैल गया। इन का बाल साहित्य और संस्मरण पत्र भी बहुत ही उच्च कोटि के हैं। गुरु जी की रचनाओं और समाज सुधार उन के शान्ति निकेतन के बारे में आज विश्व में जितना भी मान-सम्मान और आभार प्रकट करें कम है। इस के अतिरिक्त विश्व के दो देशों को राष्ट्रीय गान देकर गुरु जी ने इन पर असीम कृपा की है। रहती दुनिया तक भारत और बंगला देश में यह राष्ट्रीय गान बजते ही रहेंगे। गुरु जी ने अपना सारा साहित्य इन दोनों राष्ट्रीय गानों सहित अपनी मातृ भाषा बंगला में रचा।

रबीन्द्रनाथ टैगोर ने 1000 से भी अधिक कविताएं लिखीं और 2000 से अधिक गीतों की रचना की। प्रत्येक कृति और इतिहासिक घटना के पीछे कोई-न-कोई प्रेरक ज़रूर होता है और

गांव नौनाथ (घगवाल), ज़िला साम्बा, मो. 94191-13512

कोई भी उपलब्धि मनुष्य को नियुक्त समय पर ही मिलती है। गुरु जी का एक अग्रज़ मित्र था जिन का नाम एण्ड्रज़ (Andrews) था। यह अंग्रेज़ टैगोर की बंगला रचनाएं सुनता था। लगता है कि एण्ड्रज भी बंगला जानता था। इन के बंगला में दो गीत समूह ''खेया'' और ''नैवेद्य'' छप चुके थे।

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की अमर रचना गीतांजलि इन ही दो मूल संग्रहों से लिये गये 203 गीतों पर आधारित है। इन गीतों का चयन और इन का अंग्रेज़ी रूपान्तर रबीन्द्रनाथ टैगोर ने स्वयं ही एण्ड्रज़ की प्रेरणा से किया। अपने अंग्रेज़ मित्र और प्रशंसक एण्ड्रज़ की ही प्रेरणा से अंग्रेज़ी भाषा में लिखी हुई गीतांजलि नोवेल प्राईज़ कमेटी को भेजी गई । मूल गीतांजलि टैगोर ने 1910 ई. में लिखी थी जिस पर विश्व का साहित्य में सब से बड़ा पुरस्कार ''नोबेल प्राईज़'' मिला। यूं तो नोबेल पुरस्कार की राशि तो केवल 8000 पौंड है। परन्तु विश्व विख्याति के साधन के रूप में यह पुरस्कार अनमोल है। यह नोबल पुरस्कार हर वर्ष विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार, लेखक आदि को मिलता है। लेकिन यहां पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि रबीन्द्रनाथ टेगोर की गीतांजलि को यह पुरस्कार मिलना खुद नोबल प्राईज़ का सम्मान है। इस बात को नोबेल प्राईज़ कमेटी स्वयं मान चुकी है। इस से नोबेल प्राईज़ का भी दर्जा ऊंचा हुआ है। गीतांजलि सहित विश्व कवि की रचनाओं का अनुवाद 'डोगरी' एवं विश्व की सभी भाषाओं में हो चुका है। गीतांजलि रूपी इस रचना का अनुवाद और प्रचलन अभी तक जारी है। इस प्रथम संस्करण का अंग्रेज़ी में अनुवाद 1912 ई. में हुआ था और अब तक इस के दर्जनों संस्करण निकल चुके हैं। अकेले जर्मनी के एक प्रकाशक ने गीतांजलि की 50 लाख से अधिक प्रतियां बेची हैं। डोगरी भाषा में गीतांजलि का अनुवाद डुग्गर रतन पद्मश्री, युग पुरुष रामनाथ शास्त्री जी ने रबीन्द्रनाथ टैगोर की प्रथम शताब्दी समारोह पर 1961 ई. में किया। डोगरी रूपांतर के परिचय में श्री रामनाथ शास्त्री जी लिखते हैं। ''गीतांजलि कवि रबीन्द्र की अमर रचना है। इसी पर उन को नोबेल पुरस्कार मिला था। इसी से उन का यश सारे विश्व में फैल गया था। विश्व-भर में कवि की रचनाओं को पढ़ कर बहुत सराहा गया था जिस से भारत की यह पावन-पवित्र धरती भी धन्य हो गई जिस की मिट्टी में ऐसा सुगन्धित फूल खिला था, तथा भारत माता का सिर गर्व से ऊंचा हुआ था। उस की उदास आँखों में चमक आ गई थी। मुझे भी यह बात कहते हुए गर्व होता है कि मुझे गीतांजलि की समझ तो शास्त्री जी द्वारा लिखी गई गीतांजलि पढ़ कर ही आई थी। डोगरी के एक और जाने-माने हस्ताक्षर कवि केहरी सिंह मधुकर ने भी रबीन्द्रनाथ टैगोर की 101 कविताओं और गीतों का अनुवाद डोगरी में किया है। इन में भी कुछ गीतांजलि की रचनाएं शामिल हैं। इस बारे में मधुकर जी के अपने शब्दों में ''बंगला भाषा की इन सभी कविताओं में अपनी सादगी, सदाबहार, खुलापन और बेबाकी, मस्ती और आपमुहारापन, अर्थों की कोमलता, ऊंची उड़ान, भाषा की गति, शब्दों का चयन, संगीत और सुरताल का मन मोहक रस युक्त मधुर संगीत का लाजवाब मिश्रण है।''

यहां तक गीतांजलि में दाशर्निकता का प्रश्न है तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस महानतम विश्व कवि की गीतांजलि रूपि रचना के हर गीत पर एक पुस्तक लिखी जा सकती है

और प्रति छंद पर एक बड़ा लेख। पाठकों के चिन्तन के लिये गुरु वर रबीन्द्रनाथ टैगोर की अमर रचना गीतांजलि से कुछ रचनाएं तथा इन के रहस्य देने की चेष्टा की है। गीतांजलि का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से ऐसा आभास होता है कि विश्व कवि ने प्रेरणा या तो वेदों की ऋचाओं (मन्त्रों) से ही ली या वह, पिछले किसी जन्म में ऋषि थे और फिर अपनी एक रचना में विश्व कवि ने लिखा।

''प्रियतम जो गीत गाने के लिए मैं तेरी सभा में आया था उन्हें आज तक नहीं गा सका। यह जीवन केवल अपनी वीणा के तारों का स्वर मापने में ही बीत गया।''

अपने पहले गीत बन्दना (आमार माथा नत करो दायो) जिस का अनुवाद कवि सत्यकाम विद्यालंकार ने किया है कि कुछ पंक्तियां

मेरा मस्तक अपने चरण धूली तक झुका दे!

प्रभु मेरे समस्त अहंकार को आंखों के पानी में डुबा दे!

अपने झूठे महत्त्व की रक्षा करते हुए मैं केवल अपनी लघुता दिखा हूं।

अपनी ही परिक्रमा करते हुए मैं प्रतिक्षण क्षीण जर्ज़र होता जाता हूँ।

मेरे समस्त अहंकार को आंखों के पानी में डुबा दे।[1]

उपरोक्त पक्तियों में प्रभु यानि परम पिता परमात्मा से इतनी लघुता और नम्रता मांग रहे हैं कि वह और उस का मस्तक मानवता की चरण धूली तक झुका रहे। यदी कोई भी या वह स्वयं अपने बारे में बड़ाई करे तो वह लघुपन ही है। ऐसे मनुष्य का कभी भला नहीं होता परन्तु वह प्रतिक्षण क्षीण ही होता जाता है।

गीतांजलि के अगले गीत में गीतकार रबीन्द्रनाथ टैगोर कह रहे हैं कि भगवान चाहे उन की विपत्तियों से रक्षा ना करें। लेकिन वह यहां विपत्तियों के साथ लड़ने की शक्ति मांग रहे हैं। उदाहरणतय: गीत वरदान में कवि कह रहे हैं:

प्रभो विपत्तियों से रक्षा करो। यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नहीं आया। विपत्तियों से भयभीत न होऊं यह ही वरदान दो। यहां पर वह दुखों से लड़ने की शक्ति प्रभु से मांग रहे हैं।[2]

अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और अपार श्रद्धा को दर्शाते हुए अपनी अमर रचना गीतांजलि के एक और गीत अरुण-किरण (जननी तोमार करुण चरण ध्वनि) में कवि लिखते हैं:

''जननी! तेरे दया स्निग्ध चरणों का निवास प्रभात काल की अरुण किरणों में है।

---

1. 'वन्दना' हिन्दी अनुवाद सत्यकाम विद्यालंकार राज पाल एंड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली 2010, पृष्ठ-13

2. वही गीत वरदान हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ 16

तेरी मृज्यञ्जयी वाणी नि:शब्द आकाश में व्याप्त है।

समस्त भुवन में व्याप्त तेरी मैं वन्दना करता हूँ।

जीवन के समस्त कार्यों में व्याप्त तेरी मैं स्तुति करता हूं!

तेरी पूजा के अर्घ्य में मैं आज अपना तन-मन-धन सब अर्पित करता हूं।

जननी! तेरे द्रयार्द्र चरण अरुण किरणों में वास करते हैं।[1]

इस गीत में मातृभूमि भारत माता के प्रेम में कवि पूरी तरह समर्पित लगते हैं और प्रात: काल की अरुण किरणों से लेकर उन अरुण किरणों द्वारा भूमि की मृतिका के कणों से लेकर समस्त भुवनों में, आकाश गंगाओं में मां और मातृभूमि को निहारते हैं।

कविवर जीवन के कन-कन में और हर समय के पल-पल में वह अपना सर्वस्व अर्थात् तन-मन-धन सब मां और मातृ भूमि के चरणों में ही अर्पित कर रहे हैं।

अपने एक और गीत नि:स्वर वीणा (रूप सागरे डुब दियोछि) में कवि रूप रत्नों से भरे इस संसार सागर में इतना बड़ा, नोबेल पुरसकार जीतने वाला, इतनी रचनाओं का रचयिता होते हुए भी अपने-आप को नि:स्वर वीणा तुल्य मानते हुए अभी भी ज्ञान के महासागर में अनमोल मोतियों की तलाश में गोता लगा रहे हैं।

प्रस्तुत हैं इस गीत के कुछ छन्द:

रूप रत्नों से भरे इस सागर में, मैं अरूप, अनमोल मोती को पाने के लिए गोता लगाता हूँ।

बस, अब मैं अपनी जीर्ण नौका को घाट-घाट पर नहीं ले जाऊंगा।

लहरों पर खेलने मचलने की बेला (अब) समाप्त हो चुकी है।

अब अमरता के अथाह सागर में लीन होना है।[2]

अपने प्राणों की वीणा अब मैं उस अथाह अन्धकार भरी सभा में ले जाऊंगा जहां स्वरहीन तारों के गीत अनादिकाल से गाए जाते हैं। वहां उसे अनन्त के स्वर में मिला लूंगा और जब मेरी वीणा अपना अन्तिम गीत गाकर नि:स्वर हो जाएगी, नि:शब्द हो जाएगी तब नि:स्वर उसे अपने प्रभु के चरणों में रख दूंगा।[1]

यहां पर महा कवि अपने-आप को बिना आत्मा के एक वाद्य यन्त्र वीणा मान रहे हैं और ऐसा है कि यहां इस वीणा रूपि यन्त्र को बजाने वाला वही सर्व शक्तिमान परम पिता परमात्मा ही है। यहां पर वह ज्ञान, मुक्ति और परमात्मा को पाने के लिए सागर में गोता लगाने को कह रहे हैं। अपने

---

1. गीत

2. वही गीत वरदान हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ 16

गीत में गीतकार कहता है कि अब सागर की लहरों के खेलने-मचलने दे दिन बीत गए। कवि वीणा रूपि अपने-आप को उस अंधकार भरी सभा में ले जाने की सोच रहे हैं जहां पर वह अपना अन्तिम गीत गा कर प्रभु चरणों में निस्वर हो जाएगी, लीन हो जाएगी।

आओ देखें गीतांजलि की एक वीर रस युक्त रचना, नाम है चूड़ियां।

असंख्य तारों और विविध रंग के रत्नों से जड़ी हुई तेरी चूड़ियां कितनी सुन्दर हैं। किन्तु मुझे तेरी तलवार ही अधिक सुन्दर लगती है, जिस की धार बिजली की तरह तेज़ और विष्णु के दिव्य वाहन गरुड़ के पंखों की तरह जो सूर्यास्त की रक्तिमां पर इतनी सुन्दरता से सधी हुई है- बांकी है।

यह तलवार मृत्यु के अन्तिम आघात पर जीवन को मधुर वेदना के समान कंपाने वाली और यह उम्र आत्मिक ज्वाला की तरह पवित्र है जो एक ही लपट में पार्थिव अस्थि मज्जा को भस्म कर देती है।

तेरी चूड़ियां सचमुच बहुत सुन्दर हैं; किन्तु द्युलोक के स्वामी!

तेरी तलवार अलौकिक सौन्दर्य का अतुलनीय प्रतीक है, जिसको देखने से ही नहीं, विचार से भी आत्मा काँप उठती है।[1]

वीर रस और श्रृंगार रस से ओत-प्रोत इस कविता द्वारा विश्व कवि गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की वीरांगना झांसी की रानी लक्ष्मी बाई को अपना और सारे राष्ट्र का आभार प्रकट कर रहे हैं। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि बेशक्क हीरे-मोतियों से जड़ी हुई आसमान के तारों की तरह चमचमाते मोतियों से जड़ी तेरी चूड़ियां हैं। मगर उनको तो उस तलवार पर गर्व है। इस तलवार की पैनी धार तो आसमानी बिजली को भी मात करती है। इस तलवार की नीली-नीली झलक, चमक-दमक और चाल भगवान विष्णु के वाहन गरुड़ के नीले नीले परों जैसी प्रतीत होती है। वीरांगना की इस तलवार ने कवि का मन मोह लिया है जिस की लाली सूर्यास्त की लालिमां से भी बढ़ कर है।

आखिर में टैगोर जी की एक और रचना प्रस्तुत है जिसे विश्व कवि नौका, नदी, शीतल, मन्द पवन और इस से बढ़कर इस कविता में गीतांजलि के इस गीत में परतन्त्रता के उस अन्धकार भरे समय में कवि ने देश वासियों को इन विदेशी पश्चिमी खतरों से भी सचेत किया है।

गीत है विचित्र नौका (लेगे छे धवल पाले)

आज अमल, धवल, शीतल, मन्द, मधुर पवन वह रहा है।

इस नौका का विचित्र जगत पहिले मैंने कभी नहीं देखा, कभी नहीं देखा।

गीत चूड़ियां, गीतांजलि अनुवादक विद्यालंकार सत्यकाम, राजपाल एन्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट नई दिल्ली 2010, पृष्ठ 129

कौन से सागर तट से, कितनी दूर से यह नौका धन बटोर कर लाती है मैं कुछ नहीं जानता।

मेरा अतृप्त मन भी अपनी समस्त एहिक इच्छाओं और संपदा को सागर के इसी तट पर फेंक कर अज्ञात प्रदेशों में घूमने के लिए नाव पे चढ़ चलने को चंचल हो उठा है।

पश्चिम से मेघों का दल उमड़ रहा है,

घने काले बादलों की दरारों से फूट कर अरुण किरणों की लाली मेरे मुख पर पड़ रही है।

हे करणधार आज तूने, मुरली पर कौन-सा राग बजाया है।

मन्त्र गाया है?

इन्हीं संशय तरंगों में मेरा मन डोल रहा है, इस नौका का विचित्र जगत मैंने कभी नहीं देखा, कभी नहीं देखा।[1]

कवि के इस गीत को ध्यान से पढ़ने और उस का मंथन करके ऐसा प्रतीत होता है कि कवि, धर्म, दर्शन, त्याग, प्रकृति, परमात्मा, देश, धर्म और उस समय हो रही राजनीति पर सब कुछ कह दिया है। पश्चिम से आने वाले काले (वास्तव में गोरे) मेघ दलों से भविष्य में आने वाले खतरों से भी देशवासियों को खबरदार किया है। अपने जीवन के साठ वर्षों से भी अधिक समय पर उच्चतम कोटि का इतिहास रचकर विश्व कवि गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर जी ने भारत माता और भारतीयों को वह गौरव प्रदान किया है जो तमाम भारतवासी तो क्या संपूर्ण विश्ववासी भी उन के ऋणी रहेंगे। उन की एक सौ पचासवीं वर्ष गांठ पर अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूं।

❖❖❖

गीतांजलि अनुवाद सत्यकाम विद्यालंकार राज पाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, 2010 पृष्ठ 29.

नाटक

गुणातीत

❑ डॉ. वरुण सुथरा

नाटक की शुरुआत 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि' मन्त्र के गुञ्जन से होती है। पहले मंच पर अंधेरा है और धीरे-धीरे मन्त्रोच्चारण की ध्वनि तेज़ होने के साथ-साथ हल्की-सी रोशनी में एक बौद्ध भिक्षु ध्यान में बैठा दिखाई देता है।

(कुछ मिनट बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है।) जो कि मंच के पीछे से चलकर आएगा।

सूत्रधार - इस जीवन के विषय में हम जब भी विचार करते हैं तो हर बार हमें अपने-आप में और जीवन में एक नया संबंध नज़र आता है। कभी तो लगता है कि इस जीवन का विस्तार इतना व्यापक है कि कई युग भी मिलकर उसे माप नहीं सकते, इसकी गहराई के विषय में सोचकर ऐसा लगता है कि सैंकड़ों सागर भी कम हैं उसके आगे। और, कभी ये महसूस होता है कि एक पल में ही सिमट जाए, कुछ ऐसा है जीवन। उस एक क्षण में एक जीवन का विस्तार और उसकी अथाह गहराई समा जाती है। है न ये कितनी अद्‌भुत बात, जो शायद इस जीवन की विशेषता भी है।

जीवन के साथ हम सबकी जद्‌दोजहद हमेशा जारी रहती है। लेकिन हमारे अस्तित्व और जीवन को जोड़ने वाली सबसे ज़रूरी कड़ी है, हमारा मन। मन और जीवन में जो सबसे बड़ी समानता है, वो है इन दोनों का निरंतर बहते रहना। लेकिन इस बहाव में टकराव भी है। ये दोनों ही एक-दूसरे को अपने वश में करके अपनी दिशा में बहाना चाहते हैं। इनकी स्थिति ठीक उन दो लोगों की तरह है, जो एक ही घर में रहते हैं और उस पर अपना स्वामित्व (अधिकार) सिद्ध करने में लगे रहते हैं। लेकिन इन दोनों के द्वन्द्व के बीच हमारे अस्तित्व का क्या? उसे किस दिशा में जाना है, इसका फैसला कैसे होगा। मन के साथ जाने पे उसकी जीत है या जीवन की बात मान लेने पे, इस द्वन्द्व का आपकी हैसियत से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों आपको इसलिये माफ नहीं कर सकते कि आप कौन हैं, ये तो तभी आपका स्वामित्व स्वीकार करेंगे जब आप गुणातीत हो जाएं।

(सूत्रधार मंच से चला जाता है और फिर मन्त्र की ध्वनि होने लगती है। धीरे-धीरे मंच पे अंधेरा हो जाता है। इस समय मंच के पीछे से संवाद होता है और मंच पे 'वासवदत्ता' का आगमन होता है, जो संवाद के दौरान मूक अभिनय करती है।

संवाद- बसंत का आगमन हो चुका है और सारा नगर, ऋतुओं के अधिपति को समर्पित है।

यौवन और सौंदर्य के चरम को प्राप्त हो चुके फूलों को भ्रमर अपने आलिंगन से अर्थ प्रदान कर रहे हैं। पिछली ऋतु में जो धरती पर संचित कफ था, बसंत के आने पर सूर्य की किरणें उसे पिघला रही हैं, जो नदियों और झरनों के रूप में बह रहा है, और वो बहाव अपने में एक दृढ़ उत्साह लिये हुए है। सभी स्त्री और पुरुष ऋतु चर्या में उबटन, धूमपान और अन्जन का प्रयोग कर रहे हैं। चंदन और अगर का लेप धारण किये कामिनियों के शरीर से उठने वाली सुगंध ने हर जीव को मोहित कर दिया है। नगर में सौंदर्य का पर्याय बन चुकी वासवदत्ता भी सभी स्त्रियों में उसी तरह सम्मानित है जैसे सब ऋतुओं में बसंत। नृत्य, गायन में निपुण वासवदत्ता जब किसी वाद्य यंत्र को छू लेती है तो वह यंत्र स्वयं उस सौंदर्य की देवी के सामने समर्पित होके कोई मधुर धुन कह देता है। सम्पूर्ण नगर में कोई ऐसा नहीं है जो वासवदत्ता के रूप से प्रभावित न हो, लेकिन वासवदत्ता के दिल को आज तक कोई नहीं जीत सका। (वासवदत्ता का आगमन मंच पर हो चुका है, और उसके संवाद शुरू हो जाते हैं)

(शास्त्रीय संगीत पे नृत्य)

वासवदत्ता- बसंत अपने चरम पे है और सारा नगर उत्सव में डूबा हुआ है। फिर भी मेरे मन की दशा ऐसी क्यों है, मेरे अंदर कोई उत्सव क्यों नहीं है। ये वीणा का स्वर, इस मृदंग की थाप मेरे मन को क्यों नहीं छू रही। पक्षियों का चहचहाना, फूलों का महकना क्यों मुझे रोमांच से नहीं भर रहे। सब मेरे सौंदर्य की उपमा दे रहे हैं, लेकिन उनके शब्द मुझे खुशी नहीं दे रहे। ऐसा क्या है, जिसकी कमी मैं महसूस कर रही हूं। ये मन की कौन-सी दशा है। ये कैसी अजीब-सी उलझन है, और इसका समाधान क्या है।

(तभी बुद्धम् शरणम् गच्छामि का स्वर गूंजता है और वासवदत्ता शब्द के पीछे चली जाती है।)

सूत्रदार- वासव को अपने मन में चल रहे द्वन्द्व का आभास हो रहा है। जीवन का हर सुख और विश्व की सब भौतिक सम्पत्ति पास होने पर भी उसे सुख का आभास नहीं हो रहा है। महल के बाग में अकेली बैठी वासव विचारों के द्वन्द्व से घिरी है, तभी उसे किसी शब्द ने अचानक आकर्षित किया है। उस शब्द ने कुछ ऐसा असर किया, कि वो अपने-आप उस शब्द की ओर खिंचती चली जा रही है .....

वासव - (उस शब्द का पीछा करते हुए) कौन है, जिसकी आवाज़ के पीछे मैं ऐसी चली जा रही हूं, जैसे कभी कृष्ण की बांसुरी के पीछे वृन्दावन की कोई ग्वालिन चली जा रही हो।

(कुछ चलने पर उसे एक बौद्ध भिक्षु दिखाई देता है, उसे रोककर वासवदत्ता उससे वार्तालाप करती है।)

वासव - रुको, रुक जाओ उसकी आवाज़ सुन के भिक्षु रुक जाता है और मुड़कर उसे देखता है, उसे अचानक देखकर वासवदत्ता एकदम शिथिल हो जाती है और उसे लगता है जैसे वक़्त पे पूर्ण विराम लग चुका हो। कुछ मिनट के लिए मंच पे दोनों कलाकार एक-दूसरे को देखते

हैं और संगीत चलता है।)

भिक्षु - कहो देवी, क्या संशय है तुम्हें।

(वासवदत्ता को ये शब्द ऐसे लगते हैं जैसे कोई प्यार से सहला कर नींद से उठा रहा हो।)

वासव - हे मन मोहक ! इस अद्‌भुत आकर्षण के स्वामी तुम कौन हो, मैंने पहले तो कभी तुम्हें इस नगर में नहीं देखा।

भिक्षु - मैं उपागुप्त हूं। बुद्ध ने जिसे अपनी शरण का सौभाग्य दिया, ऐसा एक भिक्षुक हूं। मैं किस नगर, गांव या वन में कब गया, इसका कोई विचार नहीं। मेरे लिए तो इन सब में कोई अंतर नहीं है। जाने कितने नगर हैं, जिसकी सीमाओं से मैं रोज़ गुज़रता हूं, मेरी दृष्टि में उनमें कोई भेद नहीं है। न मैं अद्‌भुत हूं और न ही मुझ में कोई आकर्षण है।

वासव - तुम्हारे चेहरे पर ही नहीं, तुम्हारे तो शब्दों में भी गज़ब का आकर्षण है। उपागुप्त, ये नाम तो सैंकड़ों बार मेरे सपनों में गूंजा है, सुनते ही लग रहा है कि पानी की एक बूंद ने तप्त भूमि को छू लिया हो।

उपागुप्त - तुम्हें कोई भ्रम हुआ है देवी। मैं तो एक साधारण इंसान हूं। मेरे पास न तो कोई संसाधन है और न ही रहने का कोई निश्चित स्थान है। फिर भी अगर मैं किसी के काम आ सकूं, तो मुझे कोई एतराज़ नहीं।

वासव - हे भिक्षु ! तुम कोई साधारण इंसान हो ही नहीं सकते। इतनी असाधारण बात को कहने वाला कोई इंसान भला साधारण कैसे हो सकता है। मैं तुम्हारे ज्ञान और सरल स्वभाव को प्रणाम करती हूं।

उपागुप्त - ये तुम्हारा बड़प्पन है कि तुम मुझ जैसे एक साधारण इंसान को अपने सम्मान का पात्र मानती हो। लेकिन तुम्हारी श्रद्धा के असली हकदार तो बुद्ध हैं। सांसारिक सुखों को पाने की चाहत, जिसकी लंबाई है, गलत विचार जिसका सिर है, जल और द्वेष जिसके फैले हुए फन हैं, काम-क्रोध जिसका विष है, बेकार के तर्क-वितर्क जिसके दांत है, सांसारिक विषयों की वासना, जिसकी आंखें हैं, मोह जिसका मुख है और शरीर नाम के इस वृक्ष में जो वास करता है, उसका चित्त नाम के विशाल सांप को जिसने अपने ज्ञान से शांत कर रखा है, उस बुद्ध को मेरा प्रणाम।

वासव - इस विशाल राज्य की नृत्यांगना होने का एहसास मुझे कभी वो खुशी न दे सका, जो तुम्हारे शब्दों से मिल रही है। मैं तुमसे हाथ जोड़ के विनती करती हूं कि मेरे साथ मेरे महल में चलो। मैं हमेशा तुम्हें सुनना चाहती हूं।

उपागुप्त - मैं तुम्हारे आग्रह को अभी स्वीकार नहीं कर सकता।

वासव - लेकिन क्यों ..... ?

उपागुप्त - क्योंकि अभी सही समय नहीं आया है।

वासव - भला वसंत से अच्छा समय और कौन-सा हो सकता है।

उपागुप्त - वो मैं समय आने पर तुम्हें खुद बताऊंगा .....

(इतना कहके उपागुप्त चला जाता है, और वासव का मन दुख और उदासी से भर जाता है।)

(उदासी भरे एक गीत पर वासव का अभिनय होता है और गीत के अंत में वो रोने लगती है तभी उसकी सखी वैशाली का प्रवेश होता है।)

वैशाली - वासव तुम रो रही हो। ऐसा भला क्या हुआ। जिसके कारण तुम्हारी आंखों में आंसू भर आए हैं। मुझे तो तुम्हारे इस दुख का कोई कारण समझ नहीं आता। कुछ तो बताओ कि क्या चल रहा है तुम्हारे मन में। क्या अपनी सहेली से भी अपने दिल की बात छुपाओगी आज।

वासव - वैशाली, मुझे लगता है कि उदासी ने मेरे मन में घर कर लिया है।

वैशाली - तो (राजनर्तकी) वासव उदास है। लेकिन बसंत के मौसम में कोई खूबसूरत फूल उदास हो, बात कुछ समझ नहीं आती। ये मौसम तो खिलने का है, हंसने का है और अपनों से मिलने का है। फिर भी तुम उदास हो, क्यों?

वासव - तुम नहीं समझोगी।

वैशाली - तो समस्या कुछ ज़्यादा ही गंभीर लगती है। कुछ ऐसा हुआ है, जो मेरे समझ से भी परे है।

(पद्य शैली में) पुष्प हैं जब खिल रहे सब प्रसन्न हैं हर शाख भी प्रेम में डूबे हुए अब गा रहे हैं, भ्रमर भी आनंदित हैं। जो बह रहा सब फिर हैं क्यों ये सुमन निराश से।

वासव - (पद्य शैली में) ''हर सुमन के भाग्य में भ्रमर का गुंजन नहीं, हर माधवी की देह को प्रीतम का चुम्बन नहीं।''

वैशाली - तो ये बात है। हमारी राजनर्तकी विरह की पीड़ा से तड़प रही है। लेकिन ये सब हुआ कब। हमें तो इस बात का आभास भी नहीं हुआ। कौन है वो, जिसने वासव के हृदय को भेद दिया, अपने नयनों के वाणों से।

वासव - ये कब, क्यों और कैसे हुआ, इस बात का न तो मुझे आभास हुआ और न ही कोई एहसास। मुझे क्या हुआ, कुछ पता नहीं, मैं तो बस उसके पीछे खिंचती चली गई। और ऐसी चली हूं कि अब तक न रुक पाई। केवल मेरी देह यहां है, मेरा मन तो उसी का हो चुका है, जो उसके साथ जाने कहाँ निकल गया।

वैशाली - कहाँ के राजकुमार को अपना सर्वस्व दे बैठी है हमारी राजनर्तकी।

वासव - वो कोई राजकुमार नहीं है, वह एक बौद्ध भिक्षु है।

वैशाली - (अचंभित हो के) - भिक्षु ! तुम्हें एक भिक्षु से प्रेम हो गया है। लेकिन भिक्षु तो सांसारिक जीवन से कोसों दूर होता है। वैसे तो सारा संसार ही उसका होता है लेकिन ये भी सत्य है कि उसका कोई नहीं होता। मैं तुमसे यही प्रार्थना करूंगी कि अपने हृदय को जानकर कष्ट में न डालो। एक भिक्षु से चाहत करना, सारे संसार की वायु को एक कमरे में कैद करने के विचार के समान है।

वासव - क्या प्रेम में विचार का कोई स्थान है। मेरा उस भिक्षु की ओर आकर्षित हो जाना, किसी विचार के कारण नहीं है। बल्कि, उस समय तो मैं विचार शून्य हो गई थी। मुझे इस बात का कोई आभास नहीं कि ऐसा क्या था, जो मुझे उसकी ओर खींच रहा था। उसकी वाणी की दिव्यता, उसके चेहरे का तेज़ और उससे निरंतर बहता संतोष, मेरे अन्तर को आनंद से भर रहा था। मन बार-बार मुझसे यही कह रहा था, कि सिर्फ उसकी ही हो के रह जाऊं।

(दोनों कुछ देर के लिए शांत हो जाती हैं और संगीत शुरू हो जाता है। मंच के पार्श्व से संवाद होता है और दोनों पात्रों का मूक अभिनय और उपागुप्त।

पार्श्व ध्वनि -

एक विशाल घने वृक्ष को भेद कर सूर्य की कुछ रश्मियां, पृथ्वी के मुख को चूम रही हैं।

लाखों बाधाओं को पार करती हुई अदृश्य असीम दूरी तय करके भी रश्मियां सूर्य का प्रेम संदेश पृथ्वी तक लाती हैं। पृथ्वी अनंत काल से सूर्य के आकर्षण से बंधी हुई, उसकी परिक्रमा निरंतर कर रही है, शायद उसे पालने की चाहत में। सूर्य के हृदय की विशालता है, वो पृथ्वी के प्रेम को समझता है, आकर्षण और दूरी दोनों को बनाए रखता है। सूर्य ये जानता है कि सच्चे प्रेम का अर्थ क्या है।

(इस संवाद के अंत के साथ ही दृश्य का भी अंत हो जाता है और मंच पे सूत्रधार का प्रवेश होता है।)

सूत्रधार - इंसान के पास अगर कोई बेहद दिलचस्प चीज़ है तो वो है उसका मन। अगर ये कहा जाए कि ब्रह्मांड में कोई जान सकने लायक दिलचस्प चीज़ मन है, तो इसमें कोई अतिश्योक्ति न होगी। बिजली की गति से भी तेज़ चलने वाला ये मन, किसी के स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता। इसकी अपनी एक दुनिया है, जो कई रहस्यों को लिए है। किसी के मन के साम्राज्य का विस्तार कहां तक है, या फिर कहां तक हो सकता है, कोई नहीं कह सकता। हमारे नाटक में भी दिलचस्प बात यह है कि दो ऐसे इंसानों के मन अपना-अपना सफर तय करते हुए एक-दूसरे के सामने आ खड़े हुए हैं और सबसे दिलचस्प बात ये है कि दोनों ही मन विपरीत दिशाओं के स्वामी

हैं, लेकिन अब दोनों मन एक-दूसरे की परिधि को लांघ चुके हैं। वासव के मन में हलचल पैदा करने वाले भिक्षु के मन में भी वाद-विवाद छिड़ चुका है। (फिर संगीत शुरू हो जाता है, बुद्धम् शरणम् का मन्त्रोच्चारण और मंच पे उपागुप्त, ध्यान में बैठा है। और मंच के पीछे से संवाद चल रहा है।

संवाद - उपागुप्त की मोहक सूरत और हृदय को प्रसन्नता से भर देने वाले वार्तालाप ने राजनर्तकी वासव के मन की झील में एक अद्भुत स्पंदन कर दिया था। वासव की आशाएं निरंकुश बढ़ती जा रही थीं। ये कैसी अद्भुत स्थिति पैदा कर दी थी, सृष्टि संचालक ने। शायद वो भी इस स्थिति के रोमांच को अनुभव कर रहा हो, एक ऐसा अद्भुत और असाधारण रोमांच, जिसकी कल्पना उसने ये दृश्य रचते समय भी न की होगी।

एक ओर उपागुप्त है, जिसकी सब आशाएं और वासनाएं एक विराट सागर में समा चुकी हैं और दूसरी ओर वासव है जिसका मन हर नए पल, एक नई चाहत, एक नई ख्वाहिश और एक नई इच्छा को जन्म देता है।

(ध्वनि बंद हो जाती है और मंच पे उपागुप्त ध्यान में बैठा दिखाई देता है। पार्श्व से मन्त्रोच्चारण की ध्वनि चल रही है। कुछ देर बाद उपागुप्त आंखें खोलता है और तभी एक ओर भिक्षु अरियम का प्रवेश होता है।

अरियम - हे अग्रज ! हमें और कितने दिन इस नगर में रहना है?

उपागुप्त - हमें केवल चार दिन और रहना है इस नगर में। फिर हम पश्चिम की ओर निकल जाएंगे। वहां एक विशाल मरूस्थल है, जिसमें दो नगर समाए हुए हैं। उस मरू भूमि में हमे कुछ अधिक समय तक रुकना होगा और भगवान बुद्ध के संदेश से वहां के वासियों को लाभान्वित करना होगा। इस हरे-भरे और समृद्ध नगर में अब हम कुछ ही दिन के मेहमान है।

अरियम - वास्तव में ये नगर कितना खुशहाल है, कितना आलौकिक है।

यहाँ दूर-दूर तक खेतों में फसलों की कतारें दिखाई देती हैं, कितने घने वन हैं जो कई वृक्षों, सरोवरों और झरनों को अपने में समाए हुए हैं। कई प्रकार के पशु-पक्षी जहाँ दिन-भर क्रीड़ा करते हैं। यहां के उपवनों का सौंदर्य तो देखते ही बनता है, ऐसा लगता है जैसे किसी कामिनी ने फूलों की माला धारण कर रखी हो। यहां सर्दी और गर्मी सब ऋतुएं सुहावनी हैं, लोग समृद्ध हैं, गाय, घोड़ों और हाथियों की बहुतायत है। जब से हमने इस नगर में प्रवेश किया है, हर रोज़ किसी-न-किसी उत्सव से साक्षात कर रहे हैं। मृदंग, वीणा और खड़ताल के मधुर स्वर हमेशा कानों को सराबोर करते हैं। नगर के बीचो-बीच बहती ये नदी, इसे बराबर दो भागों में बांटती है, जिसके मीठे जल का सेवन सब नगरवासी करते हैं। फिर इस नगर में इतना कम समय बिताना और उस मरूभूमि में बहुत अधिक समय तक रहने का निर्णय, मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूं।

उपागुप्त - अरियम ! साधना के मार्ग पर चलने वालों के लिए किसी भी भौतिक सुख का कोई महत्त्व नहीं होता है। उनके लिए तो मरूस्थल भी उपवन है और उपवन भी मरूस्थल है। भेद तो उनकी दृष्टि से मिट चुका होता है। हम भिक्षु हैं और हमें अपने धर्म का निर्वाह करते हुए धीरे-धीरे सभी विषयों पर विजय प्राप्त करनी है, तभी तो हम दुनिया को मध्यम मार्ग की ओर प्रेरित कर सकते हैं। यदि हम स्वयं ही असत्य की माया के जाल से अचंभित हो जाएंगे तो औरों को सत्य का परिचय कैसे करा सकेंगे। इसलिये तुम इस नगर के प्रति किसी भी मोह को अपने हृदय में कोई स्थान न दो। मोह साधना मार्ग पर सबसे बड़ी बाधा है, ये तुम्हारे सत्त्व को हीन करेगा।

अरियम - हे अग्रज ! मोह के विषय में कुछ और बताकर मुझे कृतार्थ करें।

उपागुप्त - किसी वस्तु, मनुष्य या प्राणी के प्रति मन का जो लगाव है यानि कि मन की प्रीत की जो चरम सीमा है, उसका नाम मोह है। जब मन उस प्राणी या वस्तु से बिछुड़ना नहीं चाहता हो, लेकिन किसी कारण से बिछुड़ने पर मजबूर हो जाता है, तब मन के दुखी होने के उस भाव को ही मोह कहते हैं। मोह को प्राप्त हुए मन वाले पुरुष की स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। वो अपने चित्र को किसी अन्य स्थान पर स्थिर नहीं कर पाता। वस्तु की प्राप्ति न होने पर क्रोध और शोक प्राप्त होता है और यदि प्राप्त हुई वस्तु को मन संभाल न सके तो हर्ष की प्राप्ति होती है।

अरियम - शोक, क्रोध और हर्ष के विषय में मेरे अल्प ज्ञान को दूर करें अग्रज और मुझे इन विषयों को समझाएं।

उपागुप्त - किसी प्रिय वस्तु के खो जाने का भाव जब मन को ग्रस्त कर ले, तो वही स्थिति शोक की है और जब मनुष्य की कामना पूरी न हो तो मन में उत्पन्न होने वाला विरोधाभास क्रोध है। क्रोध के विवेक का नाश होता है और मन में भ्रम पैदा होता है। और जब मनुष्य मनचाही वस्तु के मिल जाने पर प्रसन्नता की सीमा लांघ जाता है, तो उस स्थिति को हर्ष कहते हैं। इन सभी स्थितियों में हम अति को प्राप्त होते हैं अथवा हीनता को। ये दोनों ही मनुष्य की सच्ची प्रसन्नता में बाधक हैं। अत: ऐसी स्थितियों से बचना चाहिए।

अरियम - तो ऐसी भ्रम पैदा करने वाली स्थिति से बचने के लिए मनुष्य क्या करें।

उपागुप्त - भगवान बुद्ध द्वारा बताए गये मध्यम मार्ग का अनुसरण। अभ्यास तथा ध्यान का सहारा लेते हुए मनुष्य एक-एक कदम आगे बढ़ाता हुआ वास्तविक आनंद के अपने लक्ष्य को प्राप्त करे।

अरियम - सत्य, यही सत्य है।

उपागुप्त - आओ अब ध्यान आरंभ करें।

(दोनों ध्यान में बैठ जाते हैं। मंच के पार्श्व से आध्यात्मिक संगीत शुरू होता है और धीरे-धीरे अंधेरा होने के साथ दृश्य समाप्त हो जाता है।)

दृश्य

सूत्रधार - हमारा नाटक और नाटकों की तरह तो है लेकिन यहां कहानी में एक विशेषता है। वो ये कि नायक और नायिका तो हैं परन्तु बिल्कुल विपरीत धुरी पर खड़े हैं। विषय पहले तो समझने में जटिल है लेकिन जैसे हम परत-दर-परत हटाते हैं और धीरे-धीरे मूल की ओर बढ़ने लगते हैं तो बात कुछ-कुछ हमारी समझ में आने लगती है। वैसे तो मैं आपको पूरी बात अभी ही समझा सकता हूं, लेकिन उससे आपके रोमांच को धक्का लगेगा। नाटक के अंत तक रोमांच का बना रहना भी ज़रूरी है।

(वासव और वैशाली महल के भवन में बैठी वार्तालाप कर रही हैं)

वासव - सुना है कि वो भिक्षु अपने एक ओर साथी के साथ नगर के बाहर वन में ही ठहरा हुआ है।

वैशाली - तो अब तक तुम्हारे मन में उसी के विचार घूम रहे हैं। तुम अपना ध्यान कहीं और क्यों नहीं लगाती।

वासव - अब मेरा मन, मेरे वश में नहीं है वैशाली। मैं जागते हुए भी हर पल उसी के स्वप्न देख रही हूं। वो भिक्षु मुझे किसी राजकुमार की वेशभूषा में ही नज़र आता है और हमेशा ये लगता है कि वो आकर मुझे अपनी बांहों में भर लेगा।

वैशाली - तुम्हारे कुछ भी कल्पना कर लेने से, सत्य बदल नहीं जाएगा। वो भिक्षु है, जो कभी राजकुमार नहीं बन सकता। हाँ, एक राजकुमार अवश्य सन्यासी हो सकता है।

वासव - क्या संभव है और क्या असंभव, इस पर मैं कोई विचार नहीं करना चाहती। मैं तो सिर्फ अपने इस सुन्दर स्वप्न के बहाव में बह जाना चाहती हूं।

वैशाली - इस बहाव में डूब जाने का पूरा खतरा है।

वासव - उस डूब जाने में भी मेरी जीत है।

वैशाली - ये कैसी मादकता है, कैसा पागलपन है।

वासव - ये दीवानगी है, जिसे समझना हर समझ से परे है।

वैशाली - क्यों अपने-आप को जान-बूझ कर आग के हवाले कर रही हो।

वासव - जिसका तन प्रेम की अग्नि में झुलस रहा हो, उसे आग में जल जाने का भला क्या डर।

वैशाली - प्रेम की नहीं वासना की अग्नि में।

वासव - तुम चाहे जो समझो। अगर ये वासना है, तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं तो सिर्फ उपागुप्त को पाना चाहती हूं। कोई क्या कहता है, या क्या समझना है, मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उपागुप्त किसी के प्रमाण-पत्र का मोहताज नहीं। जिस वासव के ऊपर हर पुरुष अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार होता है, आज वही वासव उस भिक्षु को अपना सर्वस्व समर्पण करना चाहती है।

वैशाली - तुम्हारे मन की स्थिति क्या है, ये मैं बिल्कुल समझ नहीं पा रही हूं।

वासव - (पद्य शैली में)

मेरे मन की है जो दशा, उसे कोई क्या समझेगा, हैं यहां सब किनारों के प्रशंसक, गहराई का अर्थ क्या कोई समझेगा।''

वैशाली - लेकिन तुम्हारी इस पीड़ा का एहसास उपागुप्त को भी तो होना चाहिए।

वासव - तुम ठीक कह रही हो। क्या तुम उसे मेरे मन की व्यथा समझा सकती हो?

वैशाली - मैं?

वासव - हां तुम ! तुम ही हो जो मेरे मन की पीड़ा को जानती और समझती हो। और तुमसे अधिक, मैं और किसी पे विश्वास नहीं करती।

वैशाली - परन्तु मैं एक बौद्ध भिक्षु को कैसे मना सकती हूं। वो ज्ञान का सागर और मैं एक सूखी नदी।

वासव - तुम्हें उससे कोई शास्त्रार्थ नहीं करना है।

तुम्हें तो बस, उसे मेरे प्रेम की गहराई से परिचित कराना है।

वैशाली - तुम्हें विश्वास है कि मैं ऐसा कर सकती हूं।

वासव - हाँ, पूरा विश्वास है। क्या तुम जाओगी उससे मिलने? (पास जाकर आग्रह करते हुए) मेरे लिए इतना भी नहीं करोगी।

वैशाली - (कुछ देर तक रहकर) मैं तुमसे कोई वादा तो नहीं करती लेकिन मैं तुम्हारे लिए उसके पास जाऊंगी। मैं अपनी ओर से पूरा प्रयास करूंगी, आगे ईश्वर की जो इच्छा। वासव प्रसन्न होकर वैशाली को गले से लगा लेती है।

वासव - तुम नहीं जानती वैशाली तुम्हारी इस बात ने मेरे मन को कितनी प्रसन्नता दी है। (मंच पर सूत्रधार का आगमन होता है।)

सूत्रधार - चाहत ! (हंसते हुए) ये कमबख्त चांहत भी क्या चीज़ है। एक बार फिर वासव का मन उसके जीवन पर हावी हो रहा है। दूसरों को अपने इशारों पर नचाने वाली वासव, जो प्रेम

को खेल समझकर, दूसरों को चाहत में तड़पता देख, आनंद लेती थी, आज वही वासव छटपटा रही है। बिल्कुल उस मछली की तरह, जिसने जल में रहते हुए तो कभी उसकी कीमत को न समझा था। लेकिन उसी जल से कुछ पल की देरी भी सहन नहीं कर पा रही है। उसके मन में बेचैनी और उम्मीद, ये दोनों भाव उठ रहे हैं।

(उपागुप्त और अरियम संवाद कर रहे हैं।)

अरियम - हे अग्रज, यदि आप आज्ञा दें तो मैं नदी के किनारे जाके स्नान कर आता हूं।

उपागुप्त - अवश्य, और फिर कुछ देर के बाद हमें नगर को छोड़कर जाना भी है। (तभी अरियम मंच से बाहर चला जाता है और वैशाली का प्रवेश होता है।)

वैशाली - भगवान बुद्ध के शिष्य, उपागुप्त को, वैशाली का प्रणाम।

उपागुप्त - तुम्हारा सदैव कल्याण हो देवी।

वैशाली - हे महात्मन् ! मैं अपनी सखी, राजनर्तकी, वासव के प्रति अपने मित्रता धर्म को निभाने आई हूं।

उपागुप्त - मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूं?

वैशाली - आप उसका आग्रह स्वीकार करें। वो वास्तव में आपसे प्रेम करती है। मैं आपसे ये प्रार्थना करती हूं कि मेरी सखी को इस बेचैनी से मुक्त करें।

उपागुप्त - हे देवी ! मैं उसे पहले ही कह चुका हूं, कि अवश्य उसके आग्रह को स्वीकार करूंगा। उसे केवल सही समय आने की प्रतीक्षा करनी है। अपने मूल से निकलने के बाद नदी को सागर से मिलने तक एक लम्बे अरसे तक जीवन का सफर तय करना होता है।

वैशाली - लेकिन इस समय, उसे जिसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, वो आप हैं।

उपागुप्त - नहीं, अभी उसे मेरी ज़रूरत नहीं है।

वैशाली - तो मुझे कोई ऐसी युक्ति बताएं जिससे उसकी ये तड़प और बेचैनी कम हो सके।

उपागुप्त - मैं केवल यही सुझाव दे सकता हूं, कि कुछ देर के लिए उसे किसी और स्थान पे ले जाओ। कुछ दिनों में सब पहले जैसा हो जाएगा।

वैशाली - प्रणाम महात्मन् ! ऐसा ही करती हूं।

(बुद्धम् शरणम् गच्छामि मन्त्रोच्चारण के साथ मंच पे अंधेरा हो जाता है। सूत्रधार का मंच पर आगमन होता है।)

सूत्रधार - (इस संवाद के दौरान वासव और प्रणय का मंच पर मूक अभिनय चलेगा।)

उपागुप्त जानता था कि वासव को अभी भी प्रेम का एहसास नहीं हुआ था, वो अभी भी प्रेम

रस को चख पाने से वंचित थी। उसके कहने पर वैशाली अपनी सखी वासव को लेकर एक दूसरे नगर चली गई। वहां वासव की मुलाकात प्रणय नामक मूर्तिकार से हुई। प्रणय ने कई निर्जीव शिलाओं में अपनी कला द्वारा प्राण भर दिए थे। वासव के रूप से प्रभावित होकर उसने वासव की मूर्ति बनाई। वासव फिर मायावी दुनिया के रंगों में डूब गई। (फिर वासव और प्रणय के संवाद होते हैं।)

वासव - तुम्हारे हाथों में जादू है प्रणय। तुमने तो इस मूर्ति को हमसे भी अधिक सजीव कर दिया।

प्रणय -.वासव, ये तुम्हारी सुन्दरता का ही असर है कि तुम्हारा रूप धारण कर ये शिला भी सजीव हो गई है।

वासव - बताओ तुम मुझसे क्या चाहते हो, इस मूर्ति के बदले।

प्रणय - मैं सिर्फ, तुम्हें नृत्य करते देखना चाहता हूं और उन मुद्राओं में तुम्हारी मूर्तियां बनाना चाहता हूं।

वासव - मैं अवश्य नाचूंगी, और केवल तुम्हारे लिए।

(वासव के नृत्य और प्रणय के मूर्ति घड़ने का दृश्य चलता है। दोनों के एक-दूसरे के निकट आने को संगीत एवं नृत्य के माध्यम से दिखाया जाएगा। और कुछ देर बाद फिर सूत्रधार का आगमन होता है।

अंतिम दृश्य

(सूत्रधार एक द्वारपाल के रूप में मंच पर आता है।)

द्वारपाल - आधी रात बीत चुकी है, सारे नगरवासी निश्चिंत होकर सो रहे हैं। इस नगर में कोई अशुभ घटना नहीं घटती और सब चैन की नींद सो पाते हैं। जानते हो क्यों ? क्योंकि यहां का द्वारपाल मैं हूं। हर प्रकार के ग्रह, बाधा, भूत और पिशाच को भगाना मैं जानता हूं। इससे पहले मैं विश्व के सबसे बड़े विश्वविद्यालय में द्वारपाल था, कोई भी मेरे प्रश्नों के उत्तर दिये बिना वहां भी द्वार के अंदर प्रवेश नहीं पा सकता था। यहां भी मेरे होते हुए कोई अंदर नहीं आ सकता। (तभी एक कुष्ठ से पीड़ित महिला वहां आ जाती है।)

महिला - पानी, पानी। क्या मुझे थोड़ा पानी मिलेगा।

द्वारपाल - वहीं रुक जा। तुझे तो कोई गम्भीर कुष्ठ रोग है। खबरदार जो इस नगर की ओर कदम बढ़ाया तो। दफा हो जा यहां से।

महिला - लेकिन पानी (कहते हुए वो आगे बढ़ती है तो द्वारपाल उसे अपने डंडे से धकेलता

है और वो धूल में जा गिरती है। वो प्यास से तड़प रही है तभी कोई व्यक्ति आकर उसका सिर अपनी गोद में रखता है। और उसे पानी पिलाता है।

व्यक्ति - (उसे सहलाते हुए) कैसी हो वासव।

वासव - कौन, कौन हो तुम, हे देव।

व्यक्ति - वासव मैंने कहा था ना, कि मैं ज़रूर आऊंगा, बस सही समय आने दो।

वासव - उपागुप्त ! तुम आ गए उपागुप्त ! लेकिन तुमने बहुत देर कर दी, अब मैं किसी योग्य नहीं रही। मैं अपना सब खो चुकी हूं।

उपागुप्त - नहीं वासव, न तो तुमने कुछ खोया है और न ही मैंने आने में देर की है। अब तुम्हारे सब कष्टों का अंत होगा। चलो मेरे साथ। (वो वासव को उठाता है और दोनों मंच के पीछे जाने लगते हैं। मन्त्रोच्चारण के साथ धीरे-धीरे मंच पर अंधेरा हो जाता है।)

(वासव - वैशाली संवाद)

सूत्रधार - बदलाव प्रकृति का नियम है, जिस तरह साल-भर सिर्फ बसंत ही नहीं रहती उसी तरह जीवन भी हर समय एक-सा नहीं रहता। इस कड़वे सच का सामना अब वासव को भी करना था। हमेशा अपने चाहने वालों से घिरी रहने वाली, अपने रूप के मद में डूबी हुई वासव को ये कभी महसूस नहीं हुआ था कि जीवन का एक और भी पहलू है, जिसे सम्य कहते हैं। लेकिन सृष्टि रचने वाले ने इस अटल नियम को भी रखा है, कि जीवन में हर किसी को सत्य का आभास ज़रूर हो। वासव को अब ये जानने का समय आ गया है कि रूप और सौंदर्य हमेशा बने रहने वाले पदार्थ नहीं है, बल्कि ईश्वर की माया का वो हिस्सा हैं, जो हमेशा मनुष्य को छलते रहते हैं। वासव को अचानक एक असाध्य त्वचा रोग हो गया, जो एक प्रकार का कुष्ठ होता है। वैद्यों के अनुसार ये महाकुष्ठ है, जिसकी चिकित्सा संभव नहीं है। स्वाभाविक है, कि जब रूप ही नहीं रहा तो चाहने वाले कैसे रह सकते हैं। वासव के आने पर अब महफिलों में शोर नहीं हो रहा है, अब तो उसका आना भी मना है और वो इस हालत में भी नहीं कि बार-बार कहीं जा सके। इकट्ठा किया हुआ सारा धन भी उसके इलाज पे खर्च हो चुका है, लेकिन उसकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। उसे जिस पर भी विश्वास था, वो सब उसका साथ छोड़ चुके हैं। जिसे वो अपनी परम सखी मानती थी, उस वैशाली ने भी मुख मोड़ लिया है .....

(सूत्रधार चला जाता है मंच पर वैशाली नृत्य कर रही है और मन की प्रसन्नता को प्रकट कर रही है और उसकी प्रशंसा के शब्द गूंज रहे हैं।

वैशाली - ये शब्द मन को प्रसन्नता से भर रहे हैं। सारा नगर मेरे रूप और सौंदर्य का गुणगान कर रहा है। कितना सुन्दर, कितना अद्भुत है ये एहसास। अब मैं नगरवधू हूं, वैशाली जिसके एक

इशारे पर धनवान-से-धनवान व्यक्ति, बिना देर किये अपना सारा धन न्यौछावर कर दे। जिसकी एक झलक को पाने के लिए असंख्य नगरवासी कतारों में प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिसके पैर ज़मीन में रखने से पहले सैंकड़ों हाथ उन्हें संभालने के लिए आगे आ जाते हैं। मैं जो चाहे पा सकती हूं, जिसे चाहे अपने इस सौंदर्य का गुलाम बना सकती हूं।

(वैशाली अपने सौंदर्य के मद में झूम रही है और तभी वासव का प्रवेश होता है।)

वासव - वैशाली, मेरी प्यारी सखी मैं कई दिनों से तुमसे मिलने का प्रयास कर रही हूं, मैंने कई बार तुम्हें संदेश भिजवाया लेकिन तुम एक बार भी न आई। क्या तुम्हें मेरी रुग्ण अवस्था का कोई आभास नहीं था। तुम्हें नहीं मालूम की मैं महाकुष्ठ से पीड़ित हूं। तुम एक बार भी मुझे देखने तक नहीं आई। (इस संवाद के चलते वैशाली के भाव अहम को दर्शाते हैं।)

वैशाली - मेरे पास समय ही कहां होता है कि अपने किसी काम के लिए कहीं आ-जा सकूं। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि अब मुझे नगरवधू का सम्मान प्राप्त है, मैं किसी भी ऐसी-वैसी जगह नहीं जा सकती। मेरा कोई भी कदम, नगर में चर्चा का विषय होता है। नगर सेठ और धनवान लोग भी पूरा-पूरा दिन मेरी प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं। इस व्यस्त दिनचर्या से समय निकाल पाना असंभव है।

वासव - मत भूलो वैशाली, कि तुमसे पहले मैं नगरवधू थी, लेकिन मैंने हमेशा सखी धर्म निभाया।

वैशाली - सखी धर्म! तुमने मुझे हमेशा दासी ही समझा, कभी मेरा परिचय किसी धनवान से नहीं कराया। तुम नगरवधू थी, लेकिन अब मैं नगरवधू हूं।

वासव - मैं किसी वाद-विवाद का हिस्सा बनने नहीं आई हूं। मुझे तुम्हारी सहायता की बहुत ज़्यादा ज़रूरत है। मेरा सब धन समाप्त हो गया है। मेरी सहायता करो, मुझे अपने यहां शरण दो सखी। सब मुझ से मुख मोड़ चुके हैं, मुझे सिर्फ तुमसे ही आशा है।

वैशाली - तुम क्यों स्वीकार नहीं कर लेती की तुम्हें एक असाध्य रोग हो चुका है, अब तुम्हारा कोई इलाज नहीं हो सकता। धीरे-धीरे हर पल तुम मृत्यु की ओर बढ़ रही हो। हर कोई तुम्हारा तिरस्कार कर चुका है। किसी भी समय. में, कहीं कोई तुम्हारा नाम नहीं लेता। तुम अब तो बीता समय हो जिसे सब भुला चुके हैं और वर्तमान सिर्फ वैशाली का है। क्या तुम्हें हर तरफ लगे हुए ये मेरे विशाल चित्र दिखाई नहीं देते, जो मेरे चाहने वाले चित्रकारों ने बनाए हैं, जिनसे सारा नगर सजा है। सत्य को मानकर उसे स्वीकार करो वासव।

वासव - आज जिस सत्य से मेरा परिचय हुआ है, उसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। तुम्हारा बहुत-बहुत धन्यवाद, वैशाली।

(वासव वहां से चली जाती है और वैशाली दोबारा नाचने और झूमने लगती है।)

❖ ❖ ❖

रबीन्द्रनाथ टैगोर जी की पाठशाला जहां विद्यार्थियों
को प्राकृतिक वातावरण में पढ़ाया जाता था।

संस्मरण

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की कर्म भूमि शांतिनिकेतन की यात्रा

❑ डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स

नवम्बर 1980 ई. में मुझे इस विश्वविख्यात संस्था शांतिनिकेतन में जाकर तीन दिन रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। तब वहां अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का आयोजन हो रहा था। क्योंकि उन दिनों मैं पूना में रह कर पूना विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र के तत्कालीन निदेशक डॉ. एस. डी. जोशी जी के पथ निर्देश में पी. एच. डी. उपाधि के लिए शोध कार्य कर रहा था, अत: मैं वहां से ही शांति निकेतन गया था। क्योंकि पूना में भण्डारकर शोध संस्थान में ही अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का प्रधान कार्यालय होने से वहां से अनेक विद्वान शांति निकेतन में होने वाले सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गए थे, परन्तु सभी ने अपने-अपने ढंग से रेलवे आरक्षण मिलकर या अलग-अलग से करवाया था, परन्तु मैंने उक्त संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र में वरिष्ठ शोधकर्ता डॉ. लाल के साथ ही आरक्षण करवाकर जाना उचित समझा। तदनुसार हमने गीतांजलि एक्सप्रैस में आरक्षण करवाकर और निश्चित तिथि पर कोलकत्ता के लिए यात्रा आरम्भ कर दी। क्योंकि कोलकत्ता में हम शांति निकेतन में आरम्भ होने वाले उक्त सम्मेलन की निश्चित तिथि से दो दिन पहले पहुंच गए थे, अत: हमने कोलकत्ता स्टेशन से ही श्री जगन्नाथ पुरी में जाकर भगवान् जगन्नाथ जी का दर्शन करने का निश्चय किया और वहां के लिए जाने वाली ट्रेन में बड़ी कठिनता से दो सीटें प्राप्त की और रात के लगभग 8 बजे श्री जगन्नाथ पुरी के लिये यात्रा आरम्भ कर दी। अगले दिन प्रात: 6 बजे के लगभग हम पुरी में पहुंचे थे। स्टेशन पर ही नहा-धोकर हम भगवान के दर्शनार्थ मन्दिर द्वार पर पहुंच गए। सच ही बड़ा भव्य मन्दिर है वह जिसमें भगवान श्री जगन्नाथ, उनकी बहन सुमद्रा और भाई बलभद्र जी की तीन काष्ठ विग्रह की अद्भुत मूर्तियां है। वहां प्रसाद ग्रहण करके हम समुद्र तट पर चले गए। पूरी समुद्र तट की भी निराली दृश्यावलि है, क्योंकि उस तट पर अधिकतर विदेशी पर्यटकों का ही जमघट लगा रहता है। कई जोड़े अर्ध नग्न होकर पीत वर्ण की तटीय बालुका पर अपनी धुन में मस्त होकर कभी आलिंगनबद्ध होकर सूर्य स्नान (सन बाथ) का आनन्द लेते दिखाई पड़ रहे थे। उधर हिन्द महासागर की लहरें उछल-उछल कर मानो हम सब का स्वागत कर रही हों। डॉ. लाल ने उन लहरों को पृष्ठ भूमि में रख पहले मेरे चित्र अपने कैमरे में बन्द किए और मैने उनके भी कुछ चित्र कैमरे में बन्द किए थे।

वहां हम कुछ खा-पीकर पर्यटन विभाग की बस द्वारा उड़ीसा के कई दर्शनीय स्थल देखने निकल पड़े थे। पहले रास्ते में भव्य माधव मन्दिर के दर्शन किए और फिर क्रमश: कला का

आश्चर्य कोणार्क सूर्य मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर, कलिंग युद्ध के नरसंहार का साक्षी वह मैदान, सामने पहाड़ी पर जापान सरकार द्वारा निर्मित करवाया हुआ बौद्ध मन्दिर तथा जैन गुफाएं आदि देखते हुए हम सायंकाल स्टेशन पर पहुँच गए थे। सायँकाल हम पूना विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्ययन केन्द्र में पी. एच. डी के लिए शोधकर रही सुश्री सरस्वती महापात्र को कुशल-क्षेम का सन्देश देने उसके घर पहुंचे।

उसके माता-पिता और पुस्तक-विक्रय के व्यापारी भाई ने हमारा हृदय की गहराइयों से प्यार से आतिथ्य ही नहीं किया बल्कि सुश्री सरस्वती के पिता, जो मन्दिर समिति में अन्यतम सदस्य थे, ने हमें मन्दिर में भगवान जगन्नाथ की शयन आरती में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित भी किया। हम 12 बजे के लगभग मन्दिर द्वार पर पहुँच गए थे। उस समय वहां शान्त और भव्य दृश्य तो था ही साथ ही यह आभास भी हो रहा था कि मानो भगवान जगन्नाथ अपनी बहन सुभद्रा और भाई बलभद्र के साथ साक्षात विराजमान हैं। उस समय वहां केवल वे यात्री ही उपस्थित थे, जिन्होंने मन्दिर समिति के सदस्यों से अनुमति ली हुई थी।

आरती आरम्भ होने से पहले भगवान की मूर्तियों के आगे पर्दा करके उनका सफेद चन्दन और श्वेत वस्त्रों एवं आभूषणों से शृंगार किया गया। उसके बाद पर्दा हटते ही आरती आरम्भ हो गई जो लगभग घण्टा-भर चली होगी। अन्त में दक्षिण भारतीय मन्दिरों और देवालयों के समान-वहां भी देवदासी ने अपनी सुरीली एवं करुणार्द आवाज़ में ऐसा गीत गाया कि हमारे दिल विचित्र प्रकार के स्पन्दन से भर उठे।

भगवान को शयन करवाने के बाद हम प्रसाद ग्रहण करके पण्डित महापात्र (उनका नाम स्मरण नहीं है) जी के साथ उनके घर पहुंचे और उनके आग्रह से थोड़-सा भोजन ग्रहण करके सरस्वती के भाई के साथ रेलवे स्टेशन पर पहुंच गए और उनकी सहायता से ढाई बजे की ट्रेन में जैसे-कैसे स्थान प्राप्त करके कोलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गए थे। 5 घण्टों की यात्रा के बाद दूसरे दिन प्रात: 7.30 पर कोलकत्ता पहुंच गए थे। वहां से शांति निकेतन जाने वाली पेसेंजर ट्रेन से एक बजे के लगभग शांति निकेतन स्टेशन पर पहुंच गए थे। वहां से हम ने अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के प्रबन्धकों की ओर से भेजी हुई गाड़ी द्वारा विश्व भारती विश्वविद्यालय (शांतिनिकेतन) के परिसर में पहुँचकर वहां का भव्य प्राकृतिक दृश्य देखा तो हमारा हृदय हर्षोल्लास से भर उठा था। वास्तव में शांतिनिकेतन शांति का ही घर है। इतना ही नहीं मधुर रबीन्द्र संगीत की मन्द-मन्द परन्तु सुरीली ध्वनि ने हमारे कानों और हृदयों को एकसाथ भाव विभोर कर दिया था। हमें बड़े सादे ढंग के जिस छोटे हालनुमां कमरे में ठहराया गया था, वहां का वातावरण भी बड़ा शान्त था। क्योंकि सम्मेलन का उद्घाटन दूसरे दिन होना था, अत: हम भोजनोपरान्त दिन-भर उस अनोखे विश्वविद्यालय के परिसर में खूब घूमे थे। कहीं रबीन्द्र रंगशाला और कहीं पर रबीन्द्र चित्रावलि की प्रदर्शनी लगी हुई थी और रबीन्द्र पुस्तकालय तथा वाचनालय भी देखने योग्य था। सभी की अनुपम शान थी। सब से बढ़कर अद्भुत दृश्य था कि वहां अध्ययन-अध्यापन के कार्यक्रम पेड़ों के नीचे ही चलते हैं। पेड़ों के चारों ओर सीमेन्ट की भूमिकाएं बनाई हुई हैं, जिन

पर छात्र बैठते हैं और अध्यापक उनके सामने कुर्सियों पर बैठकर अध्यापन कार्य करते हैं। परिसर में जिस ओर भी जाओ रबीन्द्र संगीत की मधुर ध्वनि कानों के माध्यम से हृदय को आनन्द देती ही रहती है। वहां के अध्यापकों, छात्रों और सभी अधिकारियों, कर्मचारियों का व्यवहार बड़ा शालीनतापूर्ण है। प्रधान द्वार के पास ही एक दुकान है जिसमें विश्वविद्यालय के शिल्प-कला शिक्षार्थियों के द्वारा निर्मित विभिन्न शिल्प कलाकृतियों का विक्रय होता है। मैंने वहां से सवा फुट लम्बे और पोने फुट-चौड़े लकड़ी के फलक पर अलग से कलात्मक ढंग से निर्मित की हुई शकुन्तला की मूर्ति जो पेट के बल लेटकर दायें हाथ में कमल का फूल लेकर अपने पालतू मृग-शावक को पुचकार रही है, खरीदी थी।

हमें वहां तीन दिन रहने का सौभाग्य मिला था। तीन ही दिन व्यस्त रहे थे तो भी किसी प्रकार की न तो थकावट हुई थी और न ही फिकर-चिन्ता। दिन-भर सम्मेलन में व्यस्त रहते थे और रात के प्रथम पहर में सांस्कृतिक कार्यक्रम जिनमें रबीन्द्र संगीत और मंचित होते हुए रबीन्द्र नाटकों को देखकर अपने हृदयों को आनन्दित करते थे।

यह तो स्वाभाविक ही है कि कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति किसी ऐतिहासिक, धार्मिक एवं प्रसिद्ध शैक्षणिक संस्थान में जाए तो उसे वहां के बारे में विस्तृत न सही पर फिर भी यत्किंचित जानकारी प्राप्त करनी ही होती है। अत: गुरुदेव की उस कर्म भूमि में तीन दिन रहकर एक सुखद अनुभूति मेरे दिल में सदा के लिए अपना स्थान तो बना ही गई थी, परन्तु उस विश्व प्रसिद्ध शैक्षणिक संस्थान के बारे में जो भी जानकारी प्राप्त कर सकता था, वह भी तो कर ही ली थी। वह भी मेरे स्मृति पटल पर अंकित थी, परन्तु उस में बढ़ोतरी की विनोदिनी गोयनका के 'शांति निकेतन' शीर्षक लेखन जो, बैंगलोर कर्नाटक की कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी प्रचार वाणी' नामक मासिक पत्रिका के मार्च 2012 अंक में छपा था। मैं लेखिका का हृदय से आभारी हूं। अन्यथा मुझे इस संस्थान के बारे में जानकारी सामग्री जुटाने के लिए न जाने कितना भटकना पड़ना था।

वास्तव में इस प्रसिद्ध शैक्षणिक संस्थान का आरम्भ गुरुदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगौर ने 1863 में किया था। बात यह भी एक संयोग की ही थी कि श्री देवेन्द्रनाथ उस से पहले भी प्रत्येक ग्रीष्म काल में कोलकत्ता की उमस भरी गर्मी तथा भीड़-भाड़ से निजात पाने के लिए हर वर्ष हिमालय की गोद में कहीं-न-कहीं चले जाया करते थे। एक बार परिवार सहित अपनी यात्रा की अवधि में बंगाल की वीर भूमि आंचल बोलपुर से तीन मील दूरी पर उन्हें विशाल चेतिय-वृक्षों की सुखद छाया से आच्छादित समतल भूमि दिखाई पड़ी, जो उनके मानस पटल पर अपना चिर स्थायी प्रभाव छोड़ गई। वह कुछ समय के लिए वहां बैठ कर प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेते-लेते इतने भावविभोर हो गए कि कुछ समय के लिए ध्यान-मग्न होकर एक प्रकार से समाधिस्थ ही हो गए थे। इससे उन्हें बड़ी मानसिक शांति भी अनुभव होने लगी और शारीरिक स्फूर्ति भी प्राप्त हुई। परिणामत: उन्होंने उसी समय निश्चय किया कि वहां कोई आश्रम या संस्था स्थापित की जाए। पर्याप्त सोच-विचार के उपरान्त उन्होंने रायपुर के जमींदार श्री भुवन मोहन सिंह से बीस

एकड़ भूमि प्राप्त कर उस पर 1963 ई. में एक विशाल दो मंज़िला भवन तैयार करवाया, पहले यद्यपि जो अतिथि गृह ही था, पर बाद में उसका नाम 'शांति निकेतन' रखा गया। उन्होंने बाद में इसे एक ट्रस्ट का रूप दे दिया था। जिसका नाम भी ''शांति निकेतन ट्रस्ट'' रखा था। सन् 1891 में उन्होंने इसी स्थान पर ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से एक प्रार्थना घर का भी निर्माण करवाया था, उसमें सभी जाति और धर्म के लोग एक साथ बैठकर प्रार्थना करते थे। ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों के अनुसार वहां मास-मदिरा का सेवन करने वालों तथा मूर्ति पूजा एवं बलि प्रथा पर विश्वास करने वालों का आना वर्जित था। उसके बाद 1901 ई. में अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर की आज्ञा से गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा-अभियान तथा गरीबी उन्मूलन के उद्देश्य से शांति निकेतन पहुंचे। वहां उन्होंने 'भारतीय गुरुकुल' नाम से पहले विद्यालय की स्थापना की। वहां उन्होंने पूर्ण रूपेण भारतीय पद्धति के अनुसार पेड़ों के नीचे अध्ययन-अध्यापन पद्धति का श्रीगणेश किया। उस गुरुकुल में सभी धर्म और जातियों के छात्रों को प्रवेश की अनुमति दी गई थी। गुरुदेव के हृदय में प्राकृतिक वातावरण वाले उस गुरुकुल में पढ़ने वाले छात्रों का बहुमुखी विकास करने के साथ-साथ उन्हें सादा जीवन व्यतीत करते हुए अपने भीतर उच्च विचारों का विकास करने की कल्पना भी थी।

नियमानुसार वहाँ के छात्र नित्य प्रात: सूर्योदय से पहले जाग पड़ते थे। फिर अपना बिस्तर आदि सम्भाल-समेट कर तथा अपना-अपना कमरा साफ करके शारीरिक व्यायाम के लिए बाहर निकल जाया करते थे। वहां से आकर स्नान, ध्यानादि से निवृत्त होकर नाश्ता करके तुरन्त अध्ययन स्थल पर पहुँच कर प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते थे। उसके बाद वृक्षों की सुखद छाया के नीचे उनका अध्ययन-अध्यापन कार्य आरम्भ हो जाता था। गुरुदेव के आदेशानुसार शिष्य और गुरुओं के परस्पर बड़े ही स्नेहिल सम्बन्ध स्थापित रखने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता था।

उनके पाठ्यक्रम में बंगला, हिन्दी, अंग्रेज़ी और संस्कृत इन चारों भाषाओं के अतिरिक्त, विज्ञान, इतिहास, भूगोल और गणित आदि विषयों की शिक्षा भी अनिवार्य रूप में सम्मिलित थी। इस के साथ-साथ वोकेशनल (Vocational) प्रशिक्षण में बागवानी, पुस्तकों की जिल्द साजी, काठ-शिल्प, चर्म-शिल्प, कपड़ा बुनाई-शिल्प, संगीत, नृत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला आदि कलाएं भी विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार वैकल्पिक विषयों में सम्मिलित थीं। सायँ काल के समय एक घण्टा-भर विद्यार्थी हर प्रकार के खेलों में भी भाग लेते थे। बीच-बीच में अध्यापकों और विद्यार्थियों को समाज-सेवा कार्यक्रमों में भी प्रवृत्त किया जाता था, जिसमें गरीब ग्रामवासियों की, उनकी कठिनाइयां दूर करने के लिए यथा सम्भव सहायता करना, सड़कें-रास्तें सुधारना तथा वृक्ष आदि लगवाना आदि प्रमुख होते थे।

विद्यार्थियों की मौलिक प्रतिभाओं के विकास के लिए तथा उनकी वक्तव्य शक्ति बढ़ाने के लिए प्रत्येक सप्ताह के अन्तिम दिन सायँकाल के समय परिसर में गोष्ठियां आयोजित की जाती थीं। जिनमें विद्यार्थियों को भाषण, देने, नाटकों का अभिनय करने, नृत्य, गान, कविता-पाठ करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

क्योंकि गुरुदेव अपने विद्यार्थियों को पूर्ण तथा नि:शुल्क शिक्षा देने के लिए प्रतिबद्ध थे, अत: उन्हें प्रारम्भ में अत्यंत आर्थिक संकट का सामना भी करना पड़ा था। गुरुदेव टैगोर की पत्नी मृणालिनी देवी भी उस संस्था में अपने पति के साथ हर समय छाया के समान रहती थी और वहां छात्रावास में विद्यार्थियों की भोजन आदि की व्यवस्था की देखरेख उन्हीं के जिम्मे थी। इसी लिए सभी बच्चे उन्हें गुरुमाता कह कर पुकारा करते थे। एक समय आर्थिक संकट का ऐसा दौर भी आया जब उन्हें उस संस्था का खर्च चलाने के लिए अपने आभूषण तक भी बेचने पड़ गए थे। परन्तु भाग्य की विडम्बना कि 1902 ई. में उनकी अचानक मृत्यु हो जाने से गुरुदेव के मन पर मानो वज्राघात ही हो गया था और फिर कुछ महीनों के बाद उनकी दूसरी पुत्री भी चल बसी और 1905 ई. में उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ भी चल बसे। इस प्रकार तीन वर्षों में तीन मौतें हो जाने से गुरुदेव कुछ समय तक यद्यपि दुखी तो रहे, परन्तु उन्होंने अपने आपको शीघ्र ही संतुलित भी कर लिया था। इस का कारण था उनका गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन तथा समाज सेवा का उद्देश्य। यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि गुरुदेव को अपना वह विद्यालय चलाने के लिए शांति निकेतन ट्रस्ट से मात्र 1800/-रु. प्रतिमास मिलते थे जबकि अपने विद्यालय को ठीक ढंग से चलाने के लिए उन्हें अधिक धन की आवश्यकता रहती थी। यह उनकी गम्भीर चिन्ता का विषय था। अत: वह धन की उस कमी को पूरा करने के लिए अपनी पुस्तकों (स्व निर्मित) तथा चित्रों को बेचकर धन अर्जित करके आश्रम का काम चलाते रहे। उसके बाद जब अपनी महत्त्वपूर्ण रचना 'गीतांजलि' पर जो नोबल पुरस्कार राशि मिली, उन्होंने वह भी अपने आश्रम को समर्पित कर दी। इसके बावजूद ज्यों-ज्यों संस्था का विस्तार होने लगा खर्च का भार भी बढ़ने लगा तो उन्हें कभी-कभी बाजार से उधार भी लेना पड़ जाता था। अत्यन्त आर्थिक कठिनाई के दौर से गुजरने पर भी उन्होंने न तो बंगाल सरकार से और न ही केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता के लिए कभी हाथ फैलाया, क्योंकि उनका उद्देश्य तो यही था कि उनका शांति निकेतन-आश्रम एवं शैक्षणिक संस्थान किसी भी प्रकार से सरकारी अंकुश से मुक्त रहे। यह तो स्वाभाविक है कि जब भी किसी भी संस्था, आश्रम या विद्यालय आदि के लिए सरकारी अनुदान आता है तो सरकारी अंकुश भी साथ ही आ जाता है।

इसके बाद उन्होंने रायपुर के ज़मींदार से आठ हज़ार रुपयों से शांति निकेतन से तीन मील दूर सुरूल ग्राम में एक विशाल भवन निर्मित करवाया और फिर उसके साथ वाली कई बीघा ज़मीन भी खरीद ली जहां पर उन्होंने श्री निकेतन नामक कृषि-संस्थान प्रारम्भ किया। इस संस्थान का भी मुख्य उद्देश्य गरीबी उन्मूलन और ग्रामीण विकास को गति देना था।

क्योंकि गुरुदेव का जो भी समाज या शिक्षा सम्बन्धी कार्य होता था वह सदा परिणाम अनुप्राणित होता था, अत: उनकी उस नवीन संस्था के कार्यक्रमों में भी सदा रचनात्मकता और गति रहनी स्वाभाविक ही थी। यही कारण था कि उस संस्थान से किसानों को आशातीत लाभ हुआ। वहां आस-पास के किसानों को प्रथम बार रसायनी खाद मिलने से उनके खेतों में अन्न की उपज कई गुना अधिक हुई। स्वाभाविक था कि किसान हर्षोल्लास से झूम उठे थे। उस संस्थान में जब साक्षरता अभियान चलाने के लिए एक नि:शुल्क विद्यालय और औषधालय भी खोला गया तो वहां के लोग और उनके बच्चे और अधिक लाभान्वित हुए। उस संस्थान को चलाने के लिए उन्होंने

प्रारम्भ में अपनी पारिवारिक संपत्ति का अधिकांश भाग बेच कर प्राप्त धन से काम चलाया। परन्तु धीरे-धीरे जब अमेरिका, जापान तथा इंग्लैण्ड आदि देशों के कृषि-विशेषज्ञ वहां पहुंचे तो उन्होंने एक तो आश्रम के कार्यकर्ताओं तथा आस-पास के किसानों को प्रशिक्षित भी किया तथा विदेशों से धन जुटाने में भी गुरुदेव की सहायता की। परिणामत: वह संस्थान अपने पैरों पर पूरी तरह खड़ा होने में समर्थ हो गया। जब 'शान्ति निकेतन' के परिसर में हस्त शिल्प केन्द्र भी चालू किया गया तो किसानों को अपने खाली समय में अपनी-अपनी पसन्द के शिल्प सीखने से अपनी रोजी-रोटी कमाने के और अवसर प्राप्त होने लगे। इस से आस-पास के ग्रामीण लोगों को ही नहीं अपितु दूर-दूर के ग्रामीणों को भी लाभ प्राप्त हुआ। वहां जिन शिल्पों का प्रशिक्षण प्रारम्भ किया गया वे इस प्रकार थे- मूर्तिकला शिल्प, काठ-शिल्प, चर्म-शिल्प, कांथा-कढ़ाई, सिलाई-शिल्प, जिल्द बांधना-शिल्प, कालीन बुनाई-शिल्प और कपड़ा बुनाई-शिल्प इत्यादि। इसके बाद 'शान्ति निकेतन' में मातृ-सदन तथा बाल चिकित्सालय भी चालू हो जाने से लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा।

जब इंग्लैंड में बसने वाले विजेन्द्रनाथ नासील नामक एक भारतीय गुरुदेव के साहित्य एवं विशेषकर उनकी कविताओं से पर्याप्त प्रभावित हुए तो उन्होंने 1912 ई. में गुरुदेव को इंग्लैंड आने के लिए आमंत्रित किया। इंग्लैंड में पहुँचने के कुछ समय उपरान्त उन्होंने इंग्लैंड के कई तत्कालीन साहित्यकारों से भेंट की। वहां की भारतीय संस्थान नामक संस्था ने उनकी 103 चुनींदा कविताओं का गीतांजलि शीर्षक से प्रकाशन किया। 1910 ई. में भारत में बंगला भाषा में छपी गीतांजलि की इन 103 कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद स्वयं गुरुदेव ने ही किया था और उसकी भूमिका लिखी थी उस समय के प्रसिद्ध कवि डब्ल्यु. वी. यीट्स ने। उसी अनूदित कृति पर 1913 ई. में उन्हें साहित्य के लिए 'नोबल' पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

इस पुरस्कार में एक स्वर्णपदक तथा एक लाख रुपये तथा प्रशस्ति पत्र सम्मिलित था। गुरुदेव इंग्लैंड से अमेरिका और जापान की यात्रा करते हुए 1913 ई. में ही लौटकर भारत आ गए थे। उसी वर्ष उन्हें कोलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी.लिट. की सम्मानित (आनरेही) उपाधि से विभूषित किया था। उसके बाद उन्होंने लगातार तीन और विदेशी यात्राएं की।

23.12.1918 ई. में उन्होंने एक सादे समारोह में उसी परिसर में विश्व 'भारती महा विद्यालय' की नींव रखी। इस आदर्श शैक्षणिक संस्थान में उसी दिन से अध्यापन, अध्ययन और शोध कार्य प्रारम्भ हो गया था। नोबल पुरस्कार से गुरुदेव को जो धनराशि प्राप्त हुई थी तथा विदेशों में अपने चित्रों की प्रदर्शनी की अवधि में चित्र-विक्रय से जो धन राशि प्राप्त हुई थी वह सम्पूर्ण धनराशि उन्होंने विश्व भारती संस्थान का काम चलाने के लिए अर्पित कर दी थी फिर धीरे-धीरे देश और विदेश से शिक्षा प्रेमी, दानी सज्जनों ने दान राशि भेजनी आरम्भ कर दी तो विश्वभारती भवन का विस्तार करके 'संगीत भवन' और 'कला भवनों' का निर्माण हो जाने से इन विषयों का प्रशिक्षण भी आरम्भ हो गया। 23.12.1921 ई. में विश्वभारती संस्थान का देश-विदेश से आमन्त्रित विद्वानों की उपस्थिति में आम्रकुंज में लोकापर्ण किया गया। इसके बाद वहां क्रमश: 1926 ई. में प्रथम कॉलेज 1937 ई. में 'चीन भवन' और 1938 ई. में 'हिन्दी भवन' का उद्घाटन किया गया।

ध्यातव्य है कि हिन्दी भवन का उद्घाटन पं. जवाहर लाल नेहरू जी के करकमलों द्वारा किया गया था। गुरुदेव की उस महती परियोजना का ही परिणाम था कि 1951 ई. में जवाहर लाल नेहरू ने देश के प्रथम प्रधानमन्त्री के रूप में लोकसभा में एक बिल प्रस्तुत करवाकर विश्वभारती को देश की अपने ढंग की एक प्रमुख शैक्षणिक संस्था मानते हुए संवैधानिक दर्जा ही नहीं दिलवाया बल्कि उसे केन्द्रीय विश्वविद्यालय भी घोषित किया गया। यह तथ्य साफ किया गया कि देश के राष्ट्रपति उस संस्था के परिदर्शक होंगे तथा वह ही वहां प्राध्यापकों, उपप्राध्यापकों की नियुक्तियों को भी स्वीकृति देंगे। देश का प्रधानमन्त्री इस संस्था का प्रमुख प्राचार्य कहलाएगा। श्रीमती इंदिरा गांधी वहां की पहली छात्रा और बाद में प्रमुख प्राचार्या भी रहीं।

विश्वभारती परिसर में इस समय जो संस्थाएं कार्यरत हैं, उनकी सूची इस प्रकार है- (1) मृणालिनी आनंद पाठशाला (प्राथमिकी शिक्षा केन्द्र), (2) पाठ-भवन (लघु-माध्यमिक शिक्षा केन्द्र), (3) शिक्षा-सत्र (माध्यमिक शिक्षा केन्द्र), (4) विद्याभवन (समाज विज्ञान केन्द्र), (5) शिक्षा भवन (विज्ञान संस्थान), (6) कला भवन (चित्र कला, मूर्तिकला केन्द्र), (7) संगीत-भवन (रबीन्द्र संगीत, नृत्य तथा शास्त्रीय संगीत केन्द्र), (8) संगठन विभाग (ग्रामीण विकास विभाग श्री निकेतन), (9) पल्ली शिक्षा भवन (कृषि शिक्षा विभाग), (10) रबीन्द्र भवन (टैगोर शोध कार्य संग्रहालय तथा प्रकाशन), (11) शिक्षा-चक्र (शिक्षक-शिक्षा विभाग), (12) विनय-भवन (शिक्षा-विभाग), (13) चीन, जापान भवन (चीनी, जापानी भाषा अध्ययन विभाग)

विश्वभारती शांति निकेतन में विभिन्न विषयों में स्नातक, तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं तक नियमित अध्ययन-अध्यापन कार्य होता है। इसके अतिरिक्त पी. एच. डी. उपाधियों के लिए शोधकार्य भी करवाया जाता है। इस केन्द्रीय विश्वविद्यालय में बंगला, उड़िया, संस्कृत, हिन्दी, असमिया, मराठी, पालि, प्राकृत आदि भारती भाषाओं के साथ-साथ चीनी, जापानी, जर्मन, अंग्रेज़ी और रूसी आदि विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी करवाया जाता है, एवं विश्व इतिहास, भूगोल, दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र आदि के साथ-साथ अनेक धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन भी करवाया जाता है। यह भारत की एक मात्र ऐसी संस्था है जहां नर्सरी से लेकर पी. एच. डी. तक शिक्षा दी जाती है।

जहां तक विभिन्न कलाओं की शिक्षा का प्रश्न है उस दृष्टि से यह विश्वविद्यालय सर्व प्रमुख स्थान रखता है। यहां जिन कलाओं का सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक प्रशिक्षण दिया जाता है वे इस प्रकार है- संगीत कला, मूर्तिकला, नृत्यकला तथा चित्रकला। इस विश्वविद्यालय में पांच हज़ार छात्र तथा छात्राओं की अलग-अलग छात्रावासों में रहने की सुचारू व्यवस्था है। उन्मुक्त वातावरण में वे सभी छात्र कार्यक्रमों में बेधड़क होकर भाग लेते हैं। इसके परिसर का क्षेत्रफल इकतीस एकड़ भूमि भाग में फैला हुआ है। यहां मंगल को आधादिन का तथा बुधवार के दिन पूर्णावकाश रहता है।

इस विश्वविद्यालय के परिसर में एक विशाल छातिम वृक्ष है जिसके नीचे एक पक्का चबूतरा बनाया हुआ है। इसी पर बैठकर 1862 ई. महर्षि देवेन्द्र नाथ ने ध्यान तथा साधना करते हुए पूर्ण

शांति अनुभव की थी। इस चबूतरे के एक कोण में संगमरमर पत्थर पर उकेरा हुआ है- ''यह वृक्ष मेरे जीवन में आनंद तथा शांति लेकर आया है।''

शांति निकेतन भवन:-

छातिम वृक्ष से थोड़ी दूरी पर एक दो मंज़िला भवन है, जो 1863 ई. में महर्षि देवेन्द्रनाथ ने बनवाया था। इसका यह नाम भी स्वयं महर्षि ने ही रखा था। गुरुदेव भी पहले इसी भवन में रहने लगे थे। कुछ समय के बाद उन्होंने उत्तरायण भाग में एक नया भवन बनवाया था। इस भवन के ठीक सामने एक मूर्तिकार ने एक सुन्दर कलाकृति का निर्माण करके वहां स्थापित किया था जो आज भी अपनी भव्यता को चमत्कृत करती हुई खड़ी है। गुरुदेव ने इसका नाम 'अनिर्वाण' रखा था।

उत्तरायण:-

यह परिसर का वह आश्रम भाग है जहां गुरुदेव के अपने निजी आवास के लिए पांच छोटे-बड़े घरों का निर्माण किया हुआ है। इन भवनों के नाम हैं:-

(1) उदयन (2) यशमोली (3) पुनश्व (4) कोनार्क तथा (5) उदीची।

इन भवनों की शिल्पकला प्रसिद्ध शिल्पी सुरेन्द्रनाथ तथा स्वयं गुरुदेव ने की थी। इन में वह जीवन के अंतिम बीस वर्षों में बारी-बारी रहा करते थे।

इन के सामने एक बहुत सुन्दर पुष्पवाटिका है जिसके चारों ओर तथा मध्य-मध्य में बड़े-बड़े विशाल वृक्ष खड़े इसके सौन्दर्य को चार चांद लगा रहे हैं।

इन घरों को गुरुदेव की मृत्यु के अनन्तर एक गिरिजा घर का रूप दे दिया गया था। इसीलिए इनमें से एक उनका शयन कक्ष, दूसरा अध्ययन कक्ष, तीसरा स्वागत कक्ष (बैठक), चौथे और पांचवें को अतिथि कक्ष के रूप में यथावत् सजा कर रखा हुआ है।

इन घरों के समीप ही गुहाघर और चित्रभानु घर भी बड़े सुन्दर हैं। इन में भी चित्रभानु घर तो सुन्दर कलाकृति का नमूना ही है जो दो मंज़िला है और उत्तरायण के दक्षिण में पंपा सरोवर के निकट है। यह घर उस समय गुरुदेव की पुत्र-वधू प्रतिभा देवी की कार्यशाला थी।

कांचघर - मंदिर जैसा यह एक ध्यान-कक्ष है, जिसका निर्माण ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों के अनुरूप किया हुआ है। इस में आकर ध्यान करने के लिए आने वालों को मूर्तिपूजा, पशुबलि, मांस भक्षण और मद्यपान का निषेध करने पर ही प्रवेश मिलता था।

विचित्र घर:-

उत्तरायण की ओर जाने के मार्ग में इस दो मंज़िला भवन का निर्माण 1961 ई. में गुरुदेव की जन्म शताब्दी के अवसर पर किया गया था। इसमें रबीन्द्रभवन, एक संग्रहालय, पुस्तकालय, शोध कक्ष, प्रकाशन-विभाग और कार्यालय हैं। इस विशाल भवन का उद्घाटन भी तत्कालीन प्रधान मंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने किया था। यह नि:सन्देह एक भव्य भवन है।

रबीन्द्रभवन पुस्तकालय:- इसमें गुरुदेव द्वारा रचित 40 नाटक, 119 कहानियां, 13 उपन्यास और 3000 कविताएं संग्रहीत हैं जिनमें इनकी कालजयी रचना 'गीतांजलि' भी सम्मिलित है, तथा यहां इनके यात्रा-विवरण, निबंध-संग्रह, इनके भाषण संग्रह और 2500 चित्र-कलाएं संग्रहीत हैं। इस पुस्तकालय के शोधकार्य विभाग में इनके द्वारा रचित तथा स्वयं स्वर बद्ध करके गाए हुए 3000 गीतों के कैसट संग्रहीत एवं सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त गुरुदेव की कहानियों, उपन्यासों तथा जीवन पर बनाए गए चलचित्रों के डिस्क भी वहां सम्भाल कर रखे हुए हैं।

शोधकार्य विभाग:-

इस विभाग में रबीन्द्रनाथ टैगोर के साहित्य तथा अन्य कार्यों पर शोध कार्य निरन्तर चलता रहता है। तथा विश्वभारती में कार्य करने वाले विद्वानों की रचनाओं पर भी शोध कार्य करवाए जाते हैं।

प्रकाशन विभाग:-

इस विभाग द्वारा मासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाओं के प्रकाशन के अतिरिक्त यहां के विद्वानों तथा शोध द्वारा रचित पाण्डुलिपियों का प्रकाशन किया जाता है।

इस आदर्श विश्वविद्यालय के परिसर में वर्षभर में अनेक प्रकार के उत्सव तथा रबीन्द्र नाटकों का मंचन तथा नृत्य आदि कार्यक्रम चलते ही रहते हैं। दुर्गा पूजा के दिनों में तो जो सांस्कृतिक कार्यक्रम चलते है, उनकी भव्यता और भी अद्भुत होती है।

यह विश्व प्रसिद्ध विश्वविद्यालय अपने ढंग का अनोखा शैक्षणिक संस्थान होने के कारण विद्वानों तथा शोधार्थियों के लिए ज्ञान-वर्द्धन का स्थान तो है ही, पर साथ ही अपने प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सुहावने जलवायु के कारण देशी तथा विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का भी केन्द्र है। इस के परिसर के कण-कण से तथा प्रत्येक पेड़ से रबीन्द्र संगीत तथा उनके मधुर उपदेश हर समय गूंजते रहते हैं। निरसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त यह विश्वविद्यालय अपने ढंग का अनूठा ही है।

धन्य थे गुरुदेव जिन्होंने इसकी कल्पना की थी। आने वाली पीढ़ियां गुरुदेव को सदा सम्मान के साथ स्मरण करती रहेंगी।

❖ ❖ ❖

रबीन्द्रनाथ टैगोर : व्यक्तित्व एवं संक्षिप्त साहित्यिक विवरण

❑ मूल० (पहाड़ी) निसार राही

रबीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म सन् 1861 ई. में एक संभ्रात बंगाली परिवार में हुआ। इनके पिता महाऋषि देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा माता जी का नाम श्री सरदा देवी था। रबीन्द्रनाथ टैगोर अपने माता-पिता की चौहदवीं संतान थे। माता की अकाल मृत्यु के कारण यह बाल्यावस्था में ही मां की ममता से वंचित हो गए। जिसका इन के कोमल बाल मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

टैगोर खानदान बंगाली समाज में धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में एक विशिष्ट पहचान प्राप्त कर चुका था। आस-पास के निकटवर्ती वर्ग में उनका प्रभुत्व एवं आधिपत्य स्थापित हो चुका था। उनके दादा द्वारकानाथ टैगोर (1794-1846) न केवल सामाजिक क्षेत्र में पहचाने जाते थे बल्कि अपने समय के उच्चकोटि के जिमींदारों में शामिल थे। उनका परिवार ज्ञान, विद्या एवं साहित्य का केन्द्र था। उनके पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817-1905) पर्यटन में विशेष रूचि रखते थे। परिणामत: उन की प्रकृति में अनेक संस्कृतियां समाहित हो चुकी थीं। इसलिए उनको महाऋषि की उपाधि से अलंकृत किया गया। उनकी धार्मिक वृत्ति ने उन्हें अपनी विशेष राह अपनाने को बाध्य किया। 23 जनवरी 1880 ई. को उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की तथा जीवन पर्यंत इसी तत्वज्ञान एवं दर्शन के मार्ग पर अग्रसर रहे।

रबीन्द्रनाथ टैगोर की प्राथमिक शिक्षा घर के वातावरण में ही हुई। उनके पठन कार्य के लिए गुरुजनों की नियुक्ति घर पर ही कर दी गई। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1879 ई. में इन्हें लंदन यूनिवर्सिटी भेजा गया, लेकिन 1880 ई. में वर्ष उपरांत ही यह कलकत्ता वापिस लौट आए।

टैगोर परिवार के अत्याधिक सदस्य उच्च शिक्षा प्राप्त कर ऊंचे-ऊंचे पदों पर विद्यमान थे। उनमें कलाकारों की सी अनेक प्रतिभायें छिपी थीं। वे लेखक, साहित्यकार, नाटककार तथा संगीतकार भी थे तथा ज्ञान के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते थे। हिन्दोस्तान के प्रथम आई.सी.एस. सतीन्द्रनाथ टैगोर हुए तथा रबीन्द्रनाथ टैगोर प्रथम भारतीय थे जिन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने का श्रेय हासिल हुआ।

रबीन्द्रनाथ टैगोर का बाईस (22) वर्ष की आयु में विवाह कर दिया गया, जबकि उनकी पत्नी मात्र दस वर्ष की थी। इस कालावधि में उन्होंने अपना ध्यान साहित्य सृजन की ओर केंद्रित

किया। 1890 ई. में उनका प्रथम काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ। चौबीस (24) वर्ष की युवावस्था में इनको अपनी पुश्तैनी सम्पत्ति की देख-रेख का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया, जिसके लिए इन्हें कोलकत्ता छोड़ दिहात जाना पड़ा। वहां का प्राकृतिक सौंदर्य, स्वच्छ वातावरण, पद्मा नदी का किनारा, नित नए अनुभव, ग्रामीण जीवन की ऊहा-पोह, कठिनाइयां एवं बाधायें, सामाजिक उतार-चढ़ाव इत्यादि ने इन के मानसिक धरातल को अत्यधिक उर्वरता एवं प्रखरता प्रदान की। परिणाम स्वरूप 'राजा और रानी', 'चित्रांगदा', 'सैक्रीफाइस' तथा 'मालिनी' जैसी नाटकीय कृतियां सर्व समक्ष हुईं। 'चित्रांगदा' उनकी उत्कृष्ट कृतियों में से एक है। सन् 1909 ई. में टैगोर ने 'गीतांजलि' नामक काव्य संग्रह साहित्य जगत को अर्पित किया। 1910 ई. में "The king of the dark chamber" नामक नाटक की रचना की। 1912 ई. में इन्होंने इंग्लैंड का पुन: दौरा किया। इस बार इनके साथ 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी था जिसकी डब्ल्यू. बी. यीट्स तथा विलियम रोथेन्स्टाइन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसी कृति के आधार पर 1913 ई. में इन्हें यूरोप तथा अमरीका में प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धी प्राप्त हुई तथा पुरस्कार से अलंकृत भी किया गया।

इन्होंने अपने जीवन का अधिकतर समय यूरोप और एशिया के अनेक देशों में भ्रमण करने तथा अमरीका में पर्यटक के रूप में व्यतीत किया।

विदेशों में इनका परिचय इनके बौद्धिक ज्ञान, साहित्यिक रचनाओं तथा अनुवादित कृतियों द्वारा हुआ। जिसकी भरपूर सराहना की गई। इनके काव्य में विद्यमान रहस्यात्मकता का पुट प्रभाव उत्पन्न करने वाला था लेकिन हिन्दोस्तान विशेषतया बंगाल में इन्हें सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र की अन्य विधाओं में ख्याति प्राप्त हुई। 1901 ई. में इन्होंने प्रयास स्वरूप शांति निकेतन नामक स्कूल की नींव रखी। जिसमें हिन्दोस्तानी दार्शनिकता तथा पश्चिमी विचारों एवं प्रभावों का संगम था। इसमें न तो केवल हिन्दोस्तानी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रदर्शन किया जाता था और न ही मात्र पश्चिमी सोच का दिखावा, बल्कि पूर्व तथा पश्चिम की उत्कृष्ट नवीन सोच को उभारने का प्रयास किया जाता था। यही स्कूल 1921 ई. में विश्व भारती यूनिवर्सिटी नाम से प्रख्यात हुआ।

नई सदी के प्रथम दशक में टैगोर पर आपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा। पहले इनकी धर्मपत्नी का आकस्मिक देहांत, फिर इनके पिता जी की मृत्यु (1905 ई.) तदुपरांत इनके तीन बच्चों का इस नश्वर संसार को छोड़ जाना। लेकिन इस सहिष्णु इंसान ने अपना धैर्य कभी न खोया तथा ऐसी विकट परिस्थितियों में दृढ़ संकल्प हो अपने पथ पर निरंतर अग्रसर रहे। William Words Worth के कथनानुसार (vini-vedi-vici) I came, I saw, I conquered के अनुसार वह चले ही नहीं अपितु निरंतर चलते ही रहे।

टैगोर अपने देश को स्वतंत्र देखने के इच्छुक थे। किन्हीं विषयों पर इनका महात्मा गांधी के साथ मतभेद भी था जिनका प्रकटीकरण इन्होंने स्वयं किया था। वास्तव में राजनैतिक स्तर पर बंगाल की धरती का एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां के किसान तथा कामगार मज़दूर हड़ताल आदि हिंसावादी कार्यों में लिप्त थे जबकि गांधी जी अहिंसावादी सोच के समर्थक थे। इसी कारण

इनका गांधी जी की अहिंसावादी सोच से टकराव था। रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित गीत 'जन-गण-मन' को स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय गीत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त बंगला देश की स्वतंत्रता की घोषणा भी इन्हीं के गीत 'अमार बांगला, सोनार बांगला' के साथ हुई।

टैगोर भारत को रंग-नसल, भेद, जात-पात आदि विषमताओं से शुद्ध देखना चाहते थे। इसलिए इन्होंने इस निकृष्ट विचारधारा का जोरदार खंडन किया।

टैगोर ने अपना सारा जीवन साहित्य सृजन को समर्पित कर दिया था, इसी लिए लेखन का विपुल भंडार अपने पीछे छोड़ा। जिसमें उपन्यास, नाटक, गीत, कवितायें अनगिनत कृतियां सम्मिलित हैं। जीवन के अंतिम पहर में इन्होंने अपना रुख चित्रकारिता की तरफ मोड़ा तथा इस क्षेत्र को भी बड़ी निपुणता से निभाया। इनके द्वारा चित्रित चित्रों की प्रदर्शनी को मास्को, बरतानिया, पेरिस, बरहिंघम तथा न्यूयार्क आदि अनेक देशों में प्रदर्शित किया गया। इनके लगभग साठ के करीब काव्य संग्रह तथा बहुत-सी गिनती में गद्य का सरमाया है जिसे विश्व-भर के साहित्यिक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

टैगोर की कुछ उत्कृष्ट रचनाएं:

टैगोर की अनेक कहानियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया गया। जिनके द्वारा उन्हें विश्व-भर में मान्यता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ:

1916 ई. में 'The hungry stone'

1918 ई. में 'Mashi' तथा

1925 ई. में 'Brokenties' आदि

टैगोर सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक यथार्थों के समर्थक थे। इनकी कहानियां सरल, साधारण मानवीय संबंधों पर आधारित थीं। 'पोस्टमास्टर' एक अति साधारण कथानक की कहानी है। दूर-दराज के किसी गांव की एक अनाथ बच्ची जिसकी देख-रेख पोस्ट मास्टर अपनी बेटी की भांति करता है मगर जब उसका स्थानांतरण कलकत्ता हो जाता है तो वह उस बच्ची को वहीं छोड़ जाता है। बच्ची प्रतीक्षारत है कि वह उसे अपने परिवार के सदस्य के रूप में अपनाकर अपने साथ ले जाए। परन्तु इस इच्छा को न भांपते हुए पोस्टमास्टर उसकी अवहेलना करता है।

'काबुलीवाला' भी एक मनोरंजक कहानी है। इसका कथानक एक झगड़ालू प्रकृति के पठान के इर्द-गिर्द घूमता है जो अपने क्रोध के कारण ही जेल में बंद होता है। वहीं पर उसे अपनी नन्हीं-सी बेटी की उंगलियों की छाप वाला मुड़ा-तुड़ा कागज़ देखकर उसकी याद सताती है जिसे उसने बड़े स्नेह से संभाल कर रखा होता है तथा वह कैद में उसके एकाकीपन का एकमात्र सहारा है।

"The return of Khoka Babu" नामक कहानी में एक नौकर का चरित्र-चित्रण किया गया है जिसे एक अमीर परिवार में बच्चे की देख-रेख करने हेतु रखा गया है। एक दिन वह बच्चा

तालाब में डूब जाता है जिसके मृत शरीर को लेकर नौकर भाग जाता है। किसी अन्य स्थान पर जाकर वह विवाह कर लेता है। जिससे उसे बच्चा पैदा होता है। जब वह बच्चा बड़ा होता है तो वह उसे लेकर अमीर दम्पत्ति के पास आता है और कहता है कि यह आपका बच्चा है जिसे मैं अपने साथ लेकर भाग गया था मगर अब मैं इसे आपको लौटाने आया हूं।

इसी तरह रवीन्द्रनाथ टैगोर की अनेक कहानियों का ताना-बाना सामाजिक समस्याओं को लेकर बुना गया है। जिनमें हिन्दोस्तानी समाज में औरतों, बच्चों संबंधी समस्याओं को उजागर किया गया है। बहुत-सी कहानियां शादी-विवाह आदि समस्या पर आधारित हैं। जिन में कुछेक तो विवाह की चाह पर केंद्रित हैं तथा कुछ में विवाहोपरांत वैचारिक असमानता अथवा विवाह संबंध विच्छेद का उल्लेख किया गया है जो 'Wife's letter' के संदर्भ से कहानी को जन्म देता है।

'Vision' नामक कहानी का कथानक एक ऐसी विवाहित युवती पर केंद्रित है। जिसकी आँखों की ज्योति छिन जाती है। उसका पति उसकी अवहेलना कर दूसरी शादी कर लेता है। एक तिरस्कृत नारी के क्रंदन एवं लाचारी से संबंधित घटनाओं से ओत-प्रोत है उपरोक्त कहानी का कथानक।

"Number one" शीर्षक के अंतर्गत एक चरित्रहीन नारी के चरित्र को चित्रित किया गया है। जो अपने पति की अनदेखी कर पर पुरुष के प्रेमपाश में बंधी है। भारतीय संस्कारों में पली-बढ़ी उस नारी को अपने इस कुकृत्य का मान भी है कि उसे तो केवल अपने पति की आज्ञाकारी रहना चाहिए। अंततः इसी कारण वह आत्महत्या कर लेती है।

एक अन्य कहानी 'Punishment' के कथानकानुसार एक आदमी क्रोधवश अपनी पत्नी की हत्या कर देता है। उसका भाई उसे कैद की सज़ा से बचाने के लिए कत्ल का जिम्मा अपने सिर लेने के लिए अपनी पत्नी को राज़ी कर लेता है। इसी तरह की कहानियां जो सामाजिक सिद्धान्तों के तंतुओं को कहीं पर तोड़ती प्रतीत होती हैं मगर कहीं पर जोड़ती भी हैं। ये उनकी उत्कृष्ट रचनायें हैं।

इनके अतिरिक्त टैगोर की कुछेक कहानियां उनकी स्वयं की प्रकृति को प्रकट करती दिखाई देती हैं जो उनके साहित्यिक ज्ञान की उड़ान को उजागर करती हैं। "EAPOE" कहानीकार की कहानी की तरह टैगोर की कहानी "The hungry stone" इसी तरह की घटना को प्रस्तुत करती है। जिसमें पात्र चरित्र चित्रण काफी हद तक इंसानी प्रकृति के अनुरूप मिलता है। "The Skeleton" शीर्षक के अंतर्गत कहानी में एक ऐसे आदमी का चरित्र-चित्रण किया गया है जो भूत से बातें करता है तथा इसी तरह के कई करिश्में कर दिखाने की हिम्मत रखता है।

टैगोर की अधिकतर कहानियां भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का दर्पण हैं। 1977 ई. में इस तथ्य का समर्थन करते हुए विश्वनाथ के अनुसार टैगोर की लगभग दो सौ कहानियों में से तकरीबन बीस तो मोतियों के दानों की मानिंद हैं।

टैगोर की कवितायें कहीं तो P.B.Shelly के काव्य की भांति प्रकृति से संबंधित हैं जिनमें समुद्री तूफान, हवाओं की तीव्र गति, लहरों का उतार-चढ़ाव, बिजलियों की कड़क, दरियाओं का प्रवाह, पद्मा नदी के किनारे हवाओं का ज़ोर इत्यादि का रोचक वर्णन मिलता है तो कहीं John Keats की भांति

Beauty is truth, truth is beauty

That is all, ye know on earth

and all ye need to know.

टैगोर की दार्शनिकता में ज़िंदगी का आरंभ तथा अंजाम, जीवन के उतार-चढ़ाव तथा इसके रंग-रूप, मां की ममता की भांति पवित्र एवं शाश्वत प्रेम, जिसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य के झंझट नहीं, जिसमें प्रकृति अपने मनमोहक दृश्यों, बेल-बूटों, लताओं, फलों से लदे वृक्षों आदि का प्रदर्शन करती प्रतीत होती हैं। इस तरह टैगोर को अपनी प्रकृति अनुरूप सिद्धान्तों को दार्शनिक तरीके से प्रकट करने में हार्दिक संतोष प्राप्त होता है परन्तु कहीं-कहीं प्रकृतिपाश से मुक्त हो व्यथित भी जान पड़ता है। फिर भी टैगोर के दृष्टिकोण को समझने के लिए उस वातावरण को समझना अत्यावश्यक है जिसमें गुरुदेव पले-बढ़े, दु:खों के अंधकार में डूबे मगर अपने लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग पर निरंतर अग्रसर रहे, यहां तक कि उनका स्वास्थ्य गिरता ही चला गया।

अमृतसर के जलियां वाले बाग के हत्याकांड ने तो टैगोर को झिंझोड़ कर रख दिया। इस घटना का उनके मन-मस्तिष्क पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि इन्होंने अंग्रेज़ों के इस घृणित कुकृत्य की न केवल घोर भर्त्सना की बल्कि प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी उपाधि knighthood वापिस लौटा दी। फिर जब वह 1921, 1926 तथा 1930 ई. में यूरोप यात्रा पर गए तो इन्हें वह सम्मान न दिया गया जो पूर्वतया दिया जाता था। ऐसा होता देख उन्हें निराशा भी हुई। इसी बीच जब टैगोर जर्मनी गए, वहां बड़े मान-सम्मान सहित उनका भव्य स्वागत किया गया। इसके पीछे अंग्रेज़ों की क्या इच्छा रही, यह उनकी समझ से बाहिर की बात थी। फिर भी टैगोर चमत्कारिक व्यक्तित्व का प्रभाव सदैव अंग्रेज़ों पर हावी रहा।

उन दिनों टैगोर स्वदेश में इतना चर्चित नहीं रहे जितना कि विदेशों में। चूंकि वह बंगला समाज से थे इसलिए स्वाभाविक तौर पर इनका झुकाव भी उसी ओर अधिक था। यही मूल कारण रहा कि वह हिंदोस्तानी विशाल समाज का हिस्सा न बन पाए। टैगोर की सोच राजनैतिक अवश्य थी परन्तु उनकी सोच कभी भी देश की राजनैतिक सोच न बन पाई। जबकि गांधी जी तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू आदि उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य थे मगर टैगोर उनके साथ चंद कदम भी न चल सके। एक अनुभवी इंसान होते हुए झगड़ों एवं समस्याओं से तो परिचित थे परन्तु राजनैतिक उठा-पटक के ज्ञाता न थे।

टैगोर निस्वार्थ प्रकृति के इंसान थे तथा ऐसा संसार देखने के इच्छुक थे जिसमें व्यथित इंसानियत को संतुष्टि मिल सके, धार्मिक भेदभाव कहीं भी किसी ओर भी दृष्टिगोचर न हो। इसके

विपरीत इन्हें जीवन-भर असंतुष्टि का सामना करना पड़ा। टैगोर हिंसा के समर्थक न थे।

यद्यपि टैगोर धार्मिक विचारों वाले परिवार के सदस्य थे लेकिन धार्मिक कट्टरता के सदैव विरोधी रहे। जबकि टैगोर खानदान को 'महाऋषि' की उपाधि का गौरव प्राप्त था मगर टैगोर विश्व बंधुत्व, मानवीयता जैसे सिद्धान्तों को प्राथमिकता देते थे।

यथार्थ में टैगोर युगीन परिस्थितियां बड़ी विकट थीं, जिनमें एक तरफ तो बरतानवी समाज को क्रांतिकारियों का सामना करना था तो दूसरी ओर हिन्दोस्तान-भर में राजनैतिक संस्थायें सुदृढ़ हो चुकी थीं। गांधी जी अहिंसा रूपी शस्त्र धारण कर मैदान में उतर चुके थे। आज़ादी के दीवानों का आंदोलन शिखर पर पहुंच चुका था।

अंग्रेज़ी भाषा की उपेक्षा के कारण भावनात्मक संबंध शिथिल पड़ रहे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति की नई विचारधारा के प्रसार ने आंदोलन का रूप धारण कर लिया था। सर सैय्यद अहमद खान (1817-98) ने अलीगढ़ कालेज की स्थापना की। उधर कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज तथा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की भी स्थापना हो चुकी थी।

उपरोक्त परिस्थितियां इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि टैगोर न केवल बंगाली समाज की टूट-फूट तक सीमित थे बल्कि उस समय के संपूर्ण भारतीय समाज में जो नव स्फूर्ति का स्फुरण हो रहा था उसमें देशवासियों को विदेशियों के विरुद्ध डटने का आह्वान करने का कार्य भी कर रहे थे। टैगोर ने अपनी कृतियों के द्वारा भारतीय समाज को सजग करने हेतु संदेश दिया कि समस्त भारत की मान-प्रतिष्ठा मात्र एकजुटता तथा दृढ़ संकल्पता के साथ ही संबद्ध है।

जीवन के अंतिम पहर में टैगोर ने चित्रकला के क्षेत्र में पदार्पण किया। इसमें भी इन्होंने विशेष स्थान प्राप्त किया। अपनी कला एवं रूचि में टैगोर सदैव प्रयासरत रहे। गांधी तथा नेहरू दोनों टैगोर की बहुमुखी प्रतिभा के प्रशंसक थे।

गांधी जी उनकी प्रशंसा इन शब्दों से करते हैं:- "The Great Sentinel" "एक मोहतबर सन्तरी" तथा "The Conscience of Sub Continent" "बर्रेसग़ीर का ज़मीर"।

पंडित नेहरू टैगोर को गांधी जी के साथ जोड़ दोनों के बारे में अपने श्रद्धेय भाव प्रकट करते हुए कहते हैं:- "Describing Tagore with Gandhi, as one of the two outstanding personalities in the world in last quarter of a century."

इस प्रकार बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर 1941 ई. को कोलकत्ता को आकाश से अस्त हो गया मगर इनकी प्रतिभा का प्रकाश सदैव विश्वाकाश में फैला रहेगा।

अनु. अज़रा चौधरी

❖ ❖ ❖

विशेष : जम्मू-कश्मीर अकैडमी द्वारा गुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर पर आयोजित सेमीनार में पढ़ा गया है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर एवं रंगमंच

❑ मूल : डॉ. ललित गुप्ता

बहुमुखी प्रतिभा के धनी रबीन्द्र नाथ टैगोर का जीवन कला, साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को समर्पित रहा है। इन्होंने लगभग एक हज़ार कविताएं, दो दर्जन के करीब नाटक-नाटिकाएं, आठ उपन्यास, लगभग आठ से अधिक कहानी-संग्रह, दो हज़ार से अधिक गीत जिनमें शब्दों के साथ साथ उनकी स्वरलिपि भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा अन्य कई विषयों पर लिखे अनगिनत लेख भी इनके जीवन की अमूल्य धरोहर है।

माँ सरस्वती के आशीर्वाद के साथ-साथ रबीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व-निर्माण में इनके शाही रहन-सहन तथा पारंपरिक निवास 'जोरासांको हवेली' की मुख्य भूमिका रही है। जोरासांको का अपना अलग ही संसार था जिसमें दादा द्वारकानाथ टैगोर का भरापूरा परिवार राजसी ठाठ-बाठ के साथ रहता था। जोरासांको का वातावरण कला, संस्कृति एवं साहित्य से भरपूर था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही हुई। उन दिनों अधिकतर महिलाओं को घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी इसलिए गुरुजन घरों में आ कर ही उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे।

रबीन्द्र के बड़े भाई ज्योतिरीन्द्र नाथ टैगोर तथा घर के अन्य सदस्यों ने 'जोरासांको नाट्यशाला' नाम का अपना घरेलू रंगमंच 1865 ई० में स्थापित किया तथा माइकल मधुसूदन दत्ता द्वारा लिखित नाटक 'कृष्णा कुमारी' का मंचन भी इन सब ने मिल कर इसी वर्ष किया। रबीन्द्रनाथ टैगोर के बड़े भाई को इस नाटक में 'अहिल्यादेवी' की भूमिका निभाने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ था। पहले-पहल रंगमंच पर महिलाओं की भूमिका भी पुरुष ही निभाया करते थे। लेकिन धीरे-धीरे घर की महिलाओं ने अपने ही घर के सदस्यों तथा संबंधियों के समक्ष अभिनय करना आरंभ किया और फिर बाद में साधारण दर्शकों के समक्ष भी।

रबीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म सन् 1861 ई० में जोरासांको की रंगारंग संस्कृति में हुआ था। यह अपने माता-पिता की चौदहवीं संतान थे। प्रारंभिक शिक्षा, इन्हें घर पर ही दी जाती थी जिसमें बंगाली के साथ-साथ भारतीय शास्त्रीय संगीत भी कई प्रकांड विद्वानों द्वारा सिखाया जाता था।

जात्रा-नाटक तैयार करना तथा खुले प्रांगणों में संगीत-सभाओं का आयोजन इनके बालपन का एक हिस्सा था जिस पर इनकी माता की मृत्योपरांत विराम-सा लग गया। मात्र चौदह वर्ष के थे जब इनकी माता का देहांत हो गया था। पंद्रह वर्ष की आयु में इनका (ज़ेट ज़ोवियर) स्कूल जाना भी छूट गया। सत्रह वर्ष की आयु में इनको भारतीय नागरिक सेवाओं (आई० सी० एस०) की

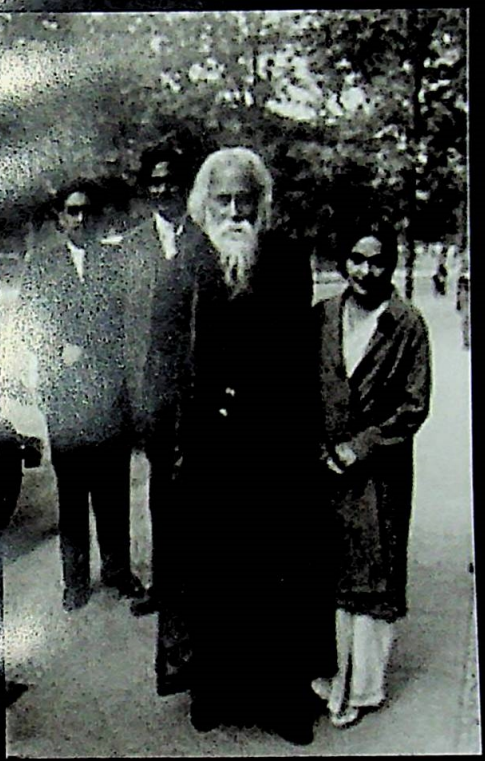

टैगोर जी बर्लिन में

परीक्षा हेतु इंग्लैंड भेजा गया जिसमें यह असफल रहे। इंगलैंड में ही एक कवि के रूप में यह उभर कर सामने आए जहाँ पर इन्होंने एलीज़ाबैथ के नाटक तथा संगीत को अपने शब्द दिए। अन्य कई नाटककारों की भांति रबीन्द्रनाथ टैगोर भी बड़ी जल्दी ही रंगमंच के मोह-बंधन में बंध गए थे तथा बीस वर्ष की आयु में इन्होंने स्वयंलिखित प्रथम नाटक में अभिनय भी किया था। इन्होंने अपने बड़े भाई के नाटक में पहली बार अपने ही घरेलू रंगमंच पर 1877 ई० में अभिनय किया था।

इनके बड़े भाई ज्योतिरीन्द्र नाथ (मई 1849 - मार्च 1925) भी उच्चकोटि के नाटककार, संगीतकार तथा संपादक थे। अत: माँ सरस्वती के अपार आर्शीवाद से यह भी संपन्न थे। इनके नाटक आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि द्वारा भी प्रसारित होते रहे हैं। छोटे भाई रबीन्द्र में प्रतिभा के बीज बोने में इनका मुख्य हाथ रहा है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर मुख्य अभिनेता के रूप में पहली बार स्वयं के ही नाटक 'वाल्मिकी प्रतिभा' में आमंत्रित दर्शकों के समक्ष आए। वाल्मिकी प्रतिभा एक गीति-नाट्य है जो ऋषि वाल्मिकी के जीवन पर आधारित है। किस प्रकार रत्नाकर नामक लुटेरा माँ सरस्वती की परम कृपा से उच्चकोटि का सन्यासी बन कर 'रामायण' जैसे पावन ग्रंथ की रचना करता है, इस नाटक की प्रस्तुति इसी पर आधारित है।

इस नाटक के निर्माण हेतु टैगोर को विभिन्न प्रकार की नाटकीय शैलियों, भावों, संशोधित कीर्तनों के प्रयोग, अंग्रेज़ी व आयरलैंड के पारंपरिक संगीत का अपनी संस्कृति में अनुकूलन आदि सब चीज़ों का गहन अध्ययन व कड़ा परिश्रम करना पड़ा।

अपनी आत्मकथा 'जीवनस्मृति' में टैगोर ने लिखा है- ''वाल्मिकी प्रतिभा में मैंने वाल्मिकी तथा मेरी भतीजी प्रतिभा ने सरस्वती की भूमिका निभाई है। इस इतिहासिक कथा के आधार पर ही इस नाटक का नाम 'वाल्मिकी-प्रतिभा' रखा था।''

बीस-इक्कीस वर्ष की आयु से ही इनकी एक प्रकांड निर्माता, निर्देशक एवं अभिनेता की यात्रा प्रारंभ हो गई थी। इन्होंने अपने ही लिखे चालीस से अधिक छोटे-बड़े नाटकों में अभिनय किया है। पचहत्तर वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी अंतिम प्रस्तुति 'सरोदात्तसाब' नाटक (1935 ई०) में शांतिनिकेतन में दी थी जहाँ पर इन्होंने अपना अंतिम आधा जीवन व्यतीत किया था तथा अधिकतर नाटकों का मंचन भी यहीं पर किया था। एक कुशल नाटककार, अभिनेता, रचनाकार व निर्माता के रूप में यह लगभग पाँच दशक तक कार्यरत रहे।

इनके लिखे नाटकों में अधिकतर पाँच-अंकीय नाटक, हास्य, एलीज़ाबैथ की शैली पर आधारित नाटक, दुखांत, हास्य एवं व्यंग्य नाटक, पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दोनों ही शैलियों में नाटकीय संवाद, प्रतीकात्मक तथा आध्यात्मिक विषयों पर आधारित नाटक, उस समय की सामाजिक व राजनैतिक समस्याओं आदि पर आधारित नाटक सम्मिलत हैं।

सन् 1881 ई. में लिखा हुआ इनका प्रथम नाटक 'वाल्मिकी प्रतिभा' (प्रतिभा सम्पन्न

वाल्मिकी) एक गीति-नाट्य था जो 'मयार खेला' (एक रहस्यात्मक-नाटक) की ही भांति उच्च स्तर की सांगीतिक रचनाओं से ओतप्रोत था।

शांतिनिकेतन में निवास के दौरान इन्होंने नाटकों की एक शृंखला बाँध दी थी जिसमें से ऋतुरंग, बसंत, फाल्गुनी, सेष वर्षा आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

इन सब नाटकों में ऋतु-गीतों के मोतियों को महीन नाटकीय धागों में बड़ी सहजता से पिरोया गया है। इनके नृत्य-नाटकों में से चंडालिका, तषर-देश, चित्रांगदा एवं श्यामा आदि प्रमुख हैं जो 1930 के दशक में लगभग इनकी सत्तहर वर्ष की आयु में लिखे गए थे। यूं तो इन नाटकों में सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं परंतु टैगोर ने इनमें जिन नाटकीय तत्वों को उजागर करने का प्रयास किया है, वे हैं- नृत्य, मूक-अभिनय, संगीत तथा नृत्य-निर्देशन।

बंगला रंगभूमि एवं नाटक जगत को रबीन्द्रनाथ टैगोर ने अद्वितीय योगदान दिया है। इन्होंने लम्बे समय के अंतराल में अनगिनत नाटक लिखे इसलिए इनके बहुत से नाटकों को किसी स्थान अथवा समय-विशेष के साथ बाँधना असंगत होगा। इनके नाटकों पर किसी उद्देश्यपूर्ति की मोहर लगाना या रंगभूमि से इनका कोई निर्धारित संबंध तय कर पाना कोई सरल बात नहीं परंतु इन्होंने जितने भी नाटक लिखे, उनके विषयों, उद्देश्यों, ढांचों, भाषा तथा व्यवहारादि में विविधता आश्चर्य चकित कर देने वाली है। वास्तव में इनके कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो एक सच्चे नाटक के सांचे पर पूर्ण ही नहीं उतरते।

रंगमंच व नाटक के विकास के प्रति इनके निजी विचारों एवं बांगला रंगमंच के विकास के निर्धारित निर्देशों में कुछ मतभेद था जिसका अन्य नाटककारों पर विशेष प्रभाव न पड़ सका इसलिए कोलकाता में रंगमंच के प्रति इनका व्यवहार काफी ठंडा, दूरस्थ एवं उदासीन रहा। वहाँ पर इन्होंने अपने कई नाटकों का मंचन व्यवसायिक थिएटरों में भी करवाया पर मुख्यत: असफल ही रहे। अंतत: अपने ही विचारों में इन्होंने धीरे-धीरे परिवर्तन लाना शुरू किया।

इन्होंने अपना पहला पूर्ण-अवधि का पाँच-अंकीय-नाटक 'राजा-ओ-रानी' पद्यात्मक शैली में सन् 1889 ई० में लिख डाला जो संगीतनाटकीय तत्त्वों, बाह्य द्वन्द्वों एवं प्रेम-प्रसंगों से ओतप्रोत था। यह नाटक कोलकाता के व्यवसायिक-थिएटरों में काफी लोकप्रिय रहा। राजा-ओ-रानी के कुछ समय पश्चात् ही इन्होंने एक और पूर्ण-अवधि का पद्य नाटक 'विसर्जन' (बलिदान) सन् 1890 ई० में लिख दिया जो एक उत्कृष्ट नाटक माना गया। इसकी कथा इनके अपने ही लिखे उपन्यास 'राजऋषि' से प्रभावित थी। विसर्जन क्रूर तथा कठोर अंधविश्वासी कृत्यों पर सीधा कटाक्ष था। वंगाल की मौलिक संस्कृति से परिपूर्ण छोटे-बड़े कथानक एवं संवाद नाटक को सतारह्वीं सदी के उदयपुर की इतिहासिक घटनाओं का आवरण प्रदान करते हैं। नाटक में त्रिपुरा का राजा मंदिर में प्रचलित पशुबलि के विरुद्ध अंधविश्वासी व कट्टर पुरोहित 'रघुपति के समक्ष उठ खड़ा होता है। विसर्जन के लगभग दो दशक तक टैगोर का कोई बड़ा नाटक सामने नहीं आया। यह वो समय था जब इनके व्यक्तित्व का एक पहलु कविता-सृजन में लीन था। तदोपरांत जैसे-तैसे

सन् 1910 में इनका नाटक 'राजा' सामने आया। यह उनके पहले वाले नाटकों से कुछ भिन्न था। राजा का अंग्रेज़ी अनुवाद (द किंग ऑफ द डार्क चैंबर) नाम से, काफी लोकप्रिय रहा है। यह एक प्रतीकात्मक तथा रहस्यवादी नाटक है। इसका कथानक महावस्तु की बौधकथा 'किंगकुश' से प्रेरित मालूम होती है। नाटक का छोटा नाट्य-रूपांतर भी अनूपरत्न शीर्षक के अंतर्गत 1920 ई० में प्रकाशित हुआ था।'

राजा के आगमन ने नाटकों की एक शृंख्ला बाँध दी और वो समय टैगोर के नाटकों का स्वर्णिम-काल कहा जा सकता है। 'राजा' ने परंपरागत चलती आ रही नाट्य लेखन-शैली में बहुत से परिवर्तन ला, भावी नाटकों को नई दिशा प्रदान की जिसमें नाटक के कथानक के इर्द-गिर्द का घटनाक्रम, वर्णनात्मक विषय तथा विभिन्न प्रकार के पात्र व उनके विस्तृत वर्णन को विशेष स्थान दिया।

प्राचीन लेखन परंपराओ के उदाहरण हम 'सरोदात्तसाब' तथा 'प्रायश्चित' नामक नाटकों में देख सकते हैं जो राजा से पहले लिखे गए हैं। इन दोनों नाटकों में बाह्य अभिनय प्रधान था जबकि बाद में इसके स्थान पर टैगोर ने दार्शनिकता एवं पात्र की अंतरआवस्था पर केंद्रित भाव-प्रस्तुति को बल दिया। राजा के उपरांत टैगोर ने 'अचलायतन' और 'डाकघर' दो नाटक 1912 ई० में लिखे।

'अचलायतन' में राजा की अपेक्षा दार्शनिक पुट कुछ अधिक था तथा नाटकीय गुणवत्ता में भी यह उससे उत्तम था। इनका दूसरा नाटक 'डाकघर' तो बंगाल में ही नहीं विश्व-भर के साहित्य जगत में अत्याधिक चर्चित रहा है। डाकघर इन्होंने तब लिखा था तब यह पद्य के क्षेत्र में 'गीतांजलि' व 'गीताली' की रचना कर रहे थे जिस पर इन्हें 1913 ई० में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

'डाकघर' की कथा अमाल नाम के बच्चे पर केंद्रित है जो शारीरिक रूप से भयंकर रोग-ग्रस्त है तथा राजवैद्य के आदेशानुसार एक ही कमरे में सीमित है। वह राजा के पत्र की प्रतीक्षा में है जो उसे उस कैद से मुक्त कराएगा। नाटक के अंत में एक सूचक द्वारा पत्र उस तक पहुँचता है परंतु उसके पहुँचते ही अमाल लम्बी-निद्रा सो जाता है। अमाल की मृत्यु के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। अमाल की मृत्यु को लेखक ने 'सांसारिक कष्टों से आत्मिक मुक्ति' कह कर नाटक का सुखद अंत माना है। डाकघर प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया एक सफल नाटक है जो लोकप्रियता की दृष्टि से देश-विदेशों में पाँव पसारे हुए हैं।

'अचलायतन':- 'अचला' अर्थात् दृढ़, अचल तथा 'आयतन' का अर्थ है- गृह, घर या निवास। अचलायतन अर्थात् अचल निवास जो 1912 ई० में लिखा गया था, रूक्ष एवं अति दृढ़ विश्वासों का दृश्य प्रस्तुत करता है। अचलायतन की कथा महापंचक, सोनपंगशु तथा डॉरवाक्स इन तीन पात्रों के इर्द-गिर्द घूमती है। 'जीवन क्या है' ये तीनों इस तथ्य की खोज में निकल पड़ते हैं, परंतु अंत में तीनों को असफलता ही प्राप्त होती है। वास्तव में जीवन की सत्यता को प्राप्त करने के लिए ज्ञान, कार्य-शक्ति एवं अनुशक्ति तीनों का संयोग अनिवार्य है और इन तीनों तत्वों के

संचय के लिए सच्चे गुरु का मार्गदर्शन वांछनीय है। यह नाटक हमारे नीति-धर्म एवं शिक्षण-प्रणाली के प्रति कड़ा रोष व्यक्त करता है जिसने नीति व अनुशासन के नाम पर नियमों एवं सिद्धांतों को मनुष्य पर थोप कर जीवन को रक्तहीन, रूक्ष एवं नीरस बना दिया है।

टैगोर के प्रतीकात्मक नाटकों का कारवां 1924 ई० में अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचा, जब नाटक 'रक्तकरबी' लिखा गया।

'रक्तकरबी' का ताना-बाना एक ऐसे दास-वर्ग के इर्द-गिर्द बुना गया है जिसके हर-एक सदस्य को क्रूर राजा सोने की खानों में काम करने के लिए विवश करता है तथा अपने ज़ालिम निरीक्षकों द्वारा उन पर अत्याचार भी करवाता है। कर्मचारियों के साथ किसी यंत्र के पुर्ज़ों-सा व्यवहार किया जाता है। उनको उनके व्यक्तिगत नामों से नहीं, बल्कि नंबरों से पहचाना व पुकारा जाता है। दलितों के इस अंधकारमय व जीवनहीन संसार में केवल नंदिनी-(नाटक की नायिका) ही आशा की किरण बन समक्ष आती है तथा इस अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करती है जिसमें उसे हज़ारों लोगों के साथ अपने प्रेमी 'रंजन' व प्रिय बालक 'किशोर' के प्राणों की आहुति देनी पड़ती है।

टैगोर के मुंबई में खानों की यात्रा दौरान हुए दुखद अनुभवों एवं मिले नकारात्मक सुझावों व विचारों के आधार पर ही इस नाटक को लिखने-लिखाने की प्रेरणा मिली। कहा जाता है कि इस नाटक की नायिका 'नंदिनी' की रचना के लिए प्रेरणा-स्त्रोत खानों में काम करने वाली एक हिम्मती महिला बनी। कुछ लोगों के मतानुसार टैगोर एक बार शिलांग (आसाम) गए, राह पर चलते-चलते उन्होंने एक लाल रंग के फूलों वाले कनेर करवीर (रेड ऑलींडर) नाम के पौधे को कचरे के नीचे दबा हुआ देखा, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने इस नाटक की रचना की। इस नाटक का अंग्रेज़ी अनुवाद 'बल्ड रैड ओलींडर' नाम से प्रसिद्ध है। रैड ओलींडर एक विषैली प्रकृति का, सुंदर फूलों वाला पौधा इस नाटक के सौंदर्य एवं असंख्य मृत्युओं जैसी विषैली घटनाओं का प्रतीक है। इस नाटक के लिए 'यक्षपुरि' व 'नंदिनी' जैसे शीर्षकों का भी चयन किया गया, परंतु 'रक्तकरबी' ही सबसे उपयुक्त माना गया।

इस नाटक के बंगाली अनुवाद का मंचन टैगोर के जीवन-काल में केवल एक ही बार उनके परिवार के सदस्यों द्वारा जोरासांको के मंच पर बड़ी उत्सुकता के साथ प्रस्तुत किया गया।

उसके उपरांत इस नाटक का सफलतापूर्वक मंचन 'सोंभू मित्रा' की बहुरूपी कंपनी के निर्देश में 1954 ई० में किया गया था। रक्तकरबी से चंद वर्ष पूर्व ही एक और नाटक 'मुक्तधारा' लिखा गया था। मुक्तधारा व रक्तकरबी दोनों नाटक एक ही उद्देश्य को ले कर लिखे गए थे।

'मुक्तधारा' की कथा भी ज़ालिम राजा द्वारा लोगों पर किए जाने वाले अत्याचार तथा अंत में उनसे मिलने वाली मुक्ति पर आधारित है।

बाँध के निर्माण के दौरान उत्तरकूट का राजा 'रणजीत' पड़ोसी राज्य 'शिव ताराई' के लोगों

को कर न दे पाने के लिए दण्डित करता है जबकि राजा का अपना पुत्र 'अभिजीत' उसके विरुद्ध शिव ताराई के लोगों की सहायता करता है तथा उनको राजा के जुल्मों से मुक्त कराता है। यहां पर टैगोर ने अपनी विस्तृत विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए, एक पुत्र को ही जनता हेतु पिता के विरुद्ध ला खड़ा किया है तथा शोषित वर्ग को शोषण से मुक्ति दिलाने में सफलता प्रदान की है।

टैगोर के नृत्य-नाट्यों में चित्रांगदा, चण्डालिका तथा श्यामा ये तीनों प्रमुख नाटक हैं जो 'रवीन्द्र नृत्य-नाट्यों' के नाम से जाने जाते हैं। ये तीनों रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा रचित नृत्य पर आधारित नाटक हैं जिनमें साहित्य की विभिन्न शैलियों, विभिन्न नाटकीय तकनीकों तथा नाटककार की मौलिक सिद्धांतवादिता के सम्मिश्रण पर आधारित टैगोर का सशक्त व ज्ञान-विषयक प्रयोग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यह उस समय का एक अद्वितीय कार्य था।

चित्रा:- 1892 ई० में लिखे नाटक चित्रांगदा का अनुवाद 'चित्रा' 1913 ई० में सामने आया जो एक गीति-नाट्य था जिसकी कथा महाभारत में पाण्डवों के अज्ञातवास के दौरान अर्जुन और चित्रा के प्रणय-संबंधों पर आधारित है। क्योंकि टैगोर स्वयं एक उच्चकोटि के अभिनेता थे तथा उनके पास नाटक लेखन एवं निर्देशन का एक लंबा अनुभव था, इसलिए इन नाटकों का मंचन, उन्होंने बड़ी स्तर्कता से किया।

थियेटर-दर्शकों के लिए टैगोर अन्य बड़े नाटकों की बजाये अपने मैलोड्रामा 'राजा-ओ-रानी' तथा दो हास्य नाटकों 'चिरकुमार सभा' तथा 'सेष रक्षा' के माध्यम से ही एक सफल नाटककार के रूप में सामने आए।

'चिरकुमार सभा तथा सेष-रक्षा':- ये दोनों नाटक काफी लोकप्रिय रहे हैं। बीसवें दशक के अंत तथा तीसवें दशक के आरंभ में इनका मंचन विभिन्न मंचों पर किया गया था।

किसी रचना का बार-बार पुनर्निरीक्षण टैगोर के स्वभाव में शामिल था। इन्होंने अपने कई उपन्यासों व कहानियों का नाटकों में रूपांतरण भी किया है। पश्चिमी तर्ज़ पर नाटक लिखने के पश्चात् टैगोर ने उनको बंगाली लोक साँचे में परिवर्तित करने का कार्य भी किया। टैगोर का नाट्य-कार्य, यात्रा-नाट्ककारों से काफी उच्च-स्तरीय है किन्तु दोनों के मध्य कहीं-कहीं कल्पना का सांझापन भी झलकता है।

समय के साथ-साथ टैगोर के नाटकों का प्रभाव इतना बढ़ता गया कि उनको देखने हेतु उस समय की महान हस्तियों को भी आना ही पड़ता। सन् 1917 ई० में जोरासांको निवास के विचित्र सभागार में टैगोर के नाटक 'डाकघर' की प्रस्तुति हुई तो उसे देखने वालों के मध्य महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक, पं० मालवीय तथा श्रीमती ऐनी बसंत भी सम्मिलित थे।

टैगोर मुक्ति अथवा मोक्ष के सिद्धान्त पर अत्याधिक विश्वास करते थे। चाहे मोक्ष शारीरिक हो या फिर आत्मिक। मोक्ष का मर्म इन्होंने उपनिषदों के गहन अध्ययन द्वारा प्राप्त किया था। यही मोक्ष भाव इनके साहित्य, विशेषतय: नाटकों में भी बारंबार दृष्टिगोचर होता है। इनके डाकघर,

अचलायतन, मुक्तधारा, रक्तकरबी आदि नाटकों में यह प्रयोग बड़ी प्रबलता से हुआ है। डाकघर में नाटक का नायक बच्चा 'अमल' को भयंकर रोग के कारण अपने कमरे से बाहर जाने के लिए रोक लगाई गई है किन्तु उसका मन तो अन्य बच्चों की मानिंद चंचल है। शरीर पर तो बंदिशें लगाई जा सकती हैं परंतु मन और कल्पना को तो कभी रोका नहीं जा सकता, वो तो सभी बंदिशों से मुक्त है। सो उसका मन पाखी कल्पना के पंख फैलाए कमरे से बाहर दूर-दूर तक विचरण करता है। दूर पहाड़ से आने वाले, दही बेचने वाले आदमी, फूल वाली लड़की, पहरेदार व बूढ़े आदमी से दोस्ती करता है। अमल की भांति उसका मन भी बच्चा है जो कई सामाजिक परंपराओं तथा ऊंच-नीच के भेद-भाव से अछूता है। इसी कारण वह इन सब लोगों को बड़ी सरलता से अपना मित्र बना लेता है।

'त्रुटियों अथवा गलतियों से शिक्षा प्राप्त करना' यह उक्ति भी टैगोर के अनुसार मोक्ष-सिद्धान्त के अंतर्गत ही आती है। टैगोर का नाटक 'अचलायतन' भी इसी उद्देश्य पर आधारित है। इसका कथानक एक ऐसे शिक्षालय का चित्र प्रस्तुत करता है जो अति रुक्ष, रूढ़िवादी तथा दंडनीति पर आधारित शिक्षा पर बल देता है। युवा महापंचक भी इसी विद्यालय का एक छात्र है जो अज्ञानतावश गलतियों को दोहराता है तथा उनके परिणाम से अनभिज्ञ है।

मुक्तधारा में भी टैगोर में मुक्ति के अन्य पहलु को स्थान दिया है जहां पर राजा का पुत्र अभिजीत शिवताराई के लोगों को अपने पिता के अत्याचारों से मुक्त कराता है। यहां पर मोक्ष से टैगोर का अभिप्राय पीड़ितों की राजा के जुल्मों से शारीरिक मुक्ति से है। टैगोर ने अपने नाटकों में शारीरिक एवं आत्मिक दोनों प्रकार के मोक्ष को स्थान दिया है।

इन्होंने सांसारिक सुख के साधन एकत्रित करने हेतु मनुष्य के मशीनों की भांति प्रयोग की जम कर निंदा की है। बहुधा लोग अधिक-से-अधिक धन एकत्रित करने में ही प्रसन्नता एवं तृप्ति अनुभव करते हैं, परंतु वास्तव में सही मुक्ति तो इन सब वस्तुओं के त्याग में ही है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर के नाटक 'रक्तकरबी' में भी राजा अधिक-से-अधिक सोना जमा करने हेतु अपने कर्मचारियों से बलपूर्वक सोने की खानों में काम करवाता है। वह मनुष्यों से यंत्रों-सा व्यवहार करता है। अत्याचार जब हद से बढ़ जाता है तो इन्हीं खानों में काम करने वाली एक युवती 'नंदिनी' ज्वाला बन कर इन लोगों का नेतृत्व करती है तथा उनको राजा के जुल्मों से मुक्त कराती है। रक्तकरबी की समाप्ति बड़े ही मार्मिक ढंग से हुई है जहां नंदिनी का प्रेमी 'रंजन' राजा के हाथों मारा जाता है। पूरे नाटक में राजा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भूमिका निभाता है। अंत में जब उसके हाथों अज्ञानतावश रंजन की मृत्यु हो जाती है तो पश्चाताप हेतु वह स्वयं को नंदिनी के आगे समर्पित कर देता है। राजा के आत्म समर्पण से शोषित वर्ग जुल्म व अत्याचार से मुक्त हो जाता है।

टैगोर ने भिन्न-भिन्न मार्गों से चल कर एक ही मंज़िल पर पहुंचने का सफल प्रयास किया है। यानि विभिन्न नाटकों में भिन्न-भिन्न पक्षों द्वारा मुक्ति अथवा मोक्ष के उद्देश्य को उघाड़ने का सफल प्रयास किया है।

जैसे कि टैगोर उस समय के नाटकों के नीरस-अंत, दुविधाजनक परिस्थितियों जैसी रंगमंच की त्रुटियों को भली-भांति जान चुके थे, इन्होंने अपने प्रयासों द्वारा रंगमंच तथा नाटक जगत में एक नई क्रांति लाई जिसमें इन्होंने असली भारतीय रंगमंच को अस्तित्व में लाया। एक ऐसा रंगमंच जहां दर्शकों को अपनत्व का एहसास होता हो, शुद्ध भारतीय विचारों से परिपूर्ण नाटक तथा रंगभूमि में से मातृभूमि की झलक मिलती हो। टैगोर ने झगड़ों तथा द्वन्द्वों के स्थान पर संयोग को बल दिया, बाह्य अभिनय का स्थान पात्रों को अंतरावस्था को प्रदान किया तथा अटल सत्यों को उजागर करने के लिए पारंपरिक स्त्रोतों का प्रयोग भी किया। इस प्रकार टैगोर ने उस समय के रंगमंच एवं नाटक जगत को अपने अनुभवों तथा प्रयासों द्वारा एक नई दिशा व दशा प्रदान की।

संदर्भ सूचि :

1. 'टैगोर, अ सैन्टैनरी वॉल्यूम, रबीन्द्रनाथ टैगोर 1861-1961' साहित्य अकादमी- नई दिल्ली।
2. रबीन्द्र नाथ टैगोर, अ पॉलीटिकल हिस्ट्री बॉय नित्यप्रिया घोष, नियोगी-बुक्स- नई दिल्ली 2011।
3. फ्रीडम इन टैगोरज़ प्लेज़, भास्वती घोष।
4. दूरसंचार माध्यम।

अनु० रीटा खडयाल

रबीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों में नारी

❑ नीरू शर्मा

रबीन्द्रनाथ टैगोर संसार-भर में उच्चकोटि के कहानीकार माने जाते हैं। उनकी कहानियों की परख-पड़ताल करने से पहले हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि मात्र कहानियां लिखना ही उनके जीवन का ध्येय नहीं था। टैगोर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे स्वयं लिखते हैं- ''मैंने इस धरती से प्रेम किया है और इसके महत्त्व के सामने श्रद्धा से सिर झुकाया है। मैंने मुक्ति की कामना की है। बचपन से ही मैं बड़ी लग्न से साहित्य-साधना में संलग्न हूं, अब उसकी सारी सीमाएं लांघ आया हूँ और अपने सामर्थ्य के अनुसार जो भी लिखा है, उसे और अपने त्याग को ईश्वर के समक्ष नवैद्य भेंट करने के लिए इकट्ठा किया है।''

टैगोर की कहानियों में उनके आगे-पीछे का वातावरण, उनके विचार उनके भाव और उन, समस्याओं की झलक दिखाई देती है जिन्होंने उनके कोमल हृदय को प्रभावित किया। उनके अनुसार- ''मैं धीरे-धीरे एक कहानी की साधना के लिए लिख रहा हूँ। मेरे आगे-पीछे की रोशनी, छांव और रंग मेरे शब्दों में घुल रहे हैं। दृश्य, पात्र और घटना जिनकी कल्पना में पानी से लबालब भरे नदी-नाले, बरसात का निर्मल गगन, पानी से सराबोर लहलहाते अनाज के खेत, जीवन और वास्तविकता प्रदान करने और उनकी पृष्ठ-भूमि दिखाने का कार्य करते हैं। यदि मैं अपनी कहानी के पात्रों के माध्यम से पाठकों के सामने बरसात के दिनों के इस निर्मल स्वच्छ आकाश वाले दिन को, सामने बह रहे छोटे-छोटे झरनों के धूप में झिल-मिलाते पानी को उपस्थित कर सकता तो वह झट से ही मेरी कहानी की सच्चाई को पूरे रूप में ग्रहण कर सकते।'' (इक्कीस कहानियां, परिचय)

उनकी अधिकतर कहानियों के पात्र गांव से संबंध रखते हैं। यह पात्र गांव की यात्रा के दौरान उन्हें मिले थे। जिनमें औरतें-मर्द, लड़के-लड़कियां, बच्चे-बूढ़े, निम्न वर्ग के लोग और कुछ ऐसी घटनाएं हैं जो गरीब लोगों के जीवन में साधारणतया घटित होती रहती हैं। उन्होंने भोले-भाले लोगों के जीवन को बड़े प्यार, सहानुभूति और सद्भावना से देखा और पूरी सच्चाई के साथ बिना किसी लाग-लपेट के आकर्षक ढंग से चित्रित किया कि पाठक पढ़ते समय पात्रों की खुशी और दुख महसूस करते हैं।

टैगोर ने कहानियों के पात्रों की मनोदशा का चित्रण बड़ी ही सूक्ष्मता से किया है। विशेषता नारी हृदय का। बचपन से ही प्रत्येक बच्ची के हृदय में किसी अज्ञात कोने में ममतामयी नारी छुपी होती है। इस बात को सार्थक करती है उनकी ''पोस्ट मास्टर'' कहानी की भोली-भाली मासूम रतना। वह पोस्टमास्टर के घर का छोटा-मोटा काम करती थी। यदि कभी वह बीमार पड़ जाते तो रतना अचानक बच्ची से ममतामयी नारी का रूप धारण कर उनकी देख-

रेख करती-उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियां देखें- पोस्टमास्टर का मन चाह रहा था कि कोई उनका हाल-चाल पूछे, कोई चूड़ियों की खनक वाली कोमल कलाई उनके माथे पर रखे तो उन्हें लगे कि कोई प्यार की मूर्ति मां या बहन उनके पास बैठी हुई है। परदेसी की आशा पूर्ण हुई। बच्ची रतना उस समय ममतामयी देवी बन गई। वह वैद्य को बुला लाई। पूरी रात सिरहाने बैठी रही और समय-समय पर दवा देती रही, रात-भर पूछती रही-''बाबू जी, कुछ आराम मिला।'' (पोस्टमास्टर)

पर जब पोस्टमास्टर अपनी नौकरी छोड़ कर कलकत्ता अपने घर जाने को तैयार हो रहे होते हैं तो रतना साथ जाने का आग्रह करती है पर वह नहीं मानते। तो उस अनाथ बच्ची की मानसिक व्यथा पाठकों के हृदय को बींध जाती है। मानसिक चित्रण देखें- ''आंसू बहाती वह डाकघर के चारों ओर चक्कर काट रही थी। शायद उसके मन में बाबू के वापिस आने की धीमी-धीमी रोशनी टिमटिमा रही थी। इसीलिए वह यहाँ से नहीं जा रही थी।''

कई बार झूठी आशाएं, तन का बूंद-बूंद रक्त चूस लेती हैं। जीवन में ऐसे कितने बिछोह होते हैं, कितनी मौतें होती हैं। कभी कोई लौटा भी है। पर यह वह मासूम अनाथ बच्ची नहीं समझ सकती थी। क्या, अपने काल्पनिक पात्रों के साथ टैगोर की सहानुभूति से ओत-प्रोत एकात्मकता और सजीव चित्रण इस कहानी को उत्कृष्ट बना देता है। कहानी पढ़ने के उपरांत पाठक का मन विचलित न हो यह मुश्किल ही नहीं नामुमकिन भी है।

बाल मन के सूक्ष्म चित्रण के साथ-साथ गुरुदेव ने नारी की मनोदशा का भी बड़ा सजीव चित्रण किया है। ''जिंदा और मरी हुई'' कहानी की विधवा कादम्बिनी जेठ के बेटे को मां बन पालती-पोसती है। कोई जब दूसरे के बच्चे को पाल-पोस कर बड़ा करे तो उसके मन का प्रेम, ममता और आकर्षण और भी ज़्यादा बढ़ जाता है। क्योंकि जहां समाजिक अधिकार न हों, मात्र प्यार का ही अधिकार हो वहाँ बेचारा अकेला प्यार समाज के सामने अपने अधिकार को किसी तरीके से भी साबित नहीं कर सकता। वह तो पहले से भी अधिक व्याकुलता से प्यार करने लगता है।

विधवा कादम्बिनी अपने प्यार और ममता का हाथ उस बच्चे के सिर से उठा कर स्वर्ग सिधार गई। अचानक हुई मृत्यु पर पुलिस कोई झंझट न खड़ा करे। इसलिए शीघ्र ही अर्थी को श्मशान घाट ले गए। सावन महीने की अंधेरी रात थी आंधी-झंझावात चलने लगा तो अर्थी में कुछ हलचल हुई जिसे देख विधु और बनमाली जो लकड़ियां लेने गए साथियों का इंतज़ार कर रहे थे। डर कर भाग जाते हैं।

कादम्बिनी को धीरे-धीरे होश आ रहा था। उसने अपने आगे-पीछे अंधेरा देखा तो सोचने लगी- ''शायद यमपुरी ऐसी ही होती हो सुनसान और अंधेरी। वहां कुछ भी देखने को नहीं, सुनने को नहीं, कोई कामकाज नहीं। सदा इसी तरह अंधेरे में ही रहना होगा।''

पर वास्तव में कादम्बिनी मरी नहीं थी। पेट में तीव्र पीड़ा होने के कारण उसके दिल की धड़कन रुक-सी गई थी। जब उसने धरती का स्पर्श महसूस किया तो उसे लगा कि वह मरी नहीं अपितु ज़िंदा है। उसकी मनोदशा देखें- ''वह सोच रही थी कि उसे जीते जी दुनिया से देश निकाला मिल गया। अब तो वह एक प्रेतात्मा है।''

उसे ज़िंदा देख उसका जेठ हाथ जोड़ कहता है- ''छोटी बहू जब तू इस दुनिया से

ही चली गई तो व्यर्थ की यह मोह-माया और ममता क्यों ?''

वह जोर से चिल्लाती है- मैं मरी नहीं-कैसे बताऊं मैं ज़िंदा हूं.....मैं मरी नहीं। कहते-कहते उसने ज़मीन पर पड़ा कटोरा उठाया और माथे पर जोर-जोर से मारने लगी। उसका माथा फट गया था और खून बहने लगा.....पर उसे कोई ज़िंदा नहीं मान रहा था।

बे-बस सी चिल्लाती हुई बाहर आई मैं मरी नहीं.....मैं मरी नहीं.....मैं मरी नहीं.....कहते-कहते सीढ़ियां उतर कर सीधे घर के भीतरी तलाब के गहरे पानी में कूद गई। पानी में किसी के गिरने की आवाज़ उसके जेठ ने भी सुनी। इस कहानी में कादम्बिनी का हृदय बिदारक चित्रण किया है। उसे यह प्रमाणित करने के लिए कि वह मरी नहीं, एक बार फिर से मरना पड़ता है। कहानी पढ़ते हुए पाठक कादम्बिनी की पीड़ा और छटपटाहट महसूस करते हैं। और उनका मन विचलित हुए बिना नहीं रहता।

नारी प्रेम की मूर्ति है। घर को व्यवस्थित रखने और दूसरों का मान-सम्मान रखने के लिए कई बार उसे झूठ भी बोलना पड़ता है। ठीक ऐसे ही भाव दर्शाती है, 'दृष्टिदान' कहानी। कहानी की नायिका कुमुद सोचती है-''नारी का जन्म लेकर भी कई बार झूठ बोलना पड़ता है। क्योंकि वह भाई का मन भी दुखाना नहीं चाहती और पति का यश भी बनाए रखना ज़रूरी होता है। मां बन कर बच्चों को बहलाना पड़ता है और पत्नी बनकर बच्चों के पिता को भी खुश रखना पड़ता है।''

पति का मान रखते-रखते नौबत यहां तक आ पहुंची कि उसके गलत उपचार के कारण वह अपनी आंखों की रोशनी गंवा बैठी।

पर उसका स्वार्थी पति अपनी गल्ती न मानते हुए उसे कहता है कि ''तू मेरे लिए देवी के समान है पर भयानक है। तेरे साथ मैं घर-गृहस्थी नहीं चला सकता। मुझे एक साधारण सी पत्नी चाहिए जिसे मैं डांट सकूं, प्यार कर संकू, आभूषण-कपड़े बनवा कर दे सकूं।'' पति की स्वार्थ से भरी बातें सुनकर कुमुद चिल्ला उठी- ''मेरा सीना चीर कर देखो बिल्कुल साधारण औरत हूँ मैं या नहीं। देखो विवाह के दिनों की छोटी-सी लड़की के सिवा और कुछ भी नहीं हूं। मैंने क्या-क्या कहा ? मुझे कुछ याद नहीं। भला ज्वार से उफनता समुद्र क्या अपनी आवाज़ स्वयं सुन सकता है। यदि मैं सती-साध्वी हूँ तो ईश्वर साक्षी है, आप भी अपनी धार्मिक प्रतिज्ञा तोड़ नहीं सकते। उस महापाप होने से पहले ही मैं विधवा हो जाऊंगी।''

कुमुद ने पति के द्वारा दिये गये गल्त इलाज से अंधी हो जाने पर ज़िंदगी से समझौता कर लिया था, पर उसके दूसरे विवाह का सुन वह विद्रोह करती है। पति का यह अत्याचार वह चुपचाप सहन नहीं करती।

'सजा' कहानी की नायिका चंपा दृढ़-संकल्पी है। हम जानते ही हैं कि नारी कोमल हृदय है पर धरती की मानिंद कठोर भी है। यदि झूठ एवं अन्याय के विरुद्ध डट कर खड़ी हो जाए तो उसे कोई भी नहीं हिला सकता।

चंदा को उसका पति छदामी उसके भाई द्वारा कत्ल की गई भाभी का आरोप अपने सर लेने को कहता है। बाद में जमानत करवा कर उसे बचा लेने का आश्वासन भी देता

है। चंदा मन-ही-मन एक दृढ़ संकल्प कर ब्यान दे देती है कि उसी ने कत्ल किया है। और उसके ब्यान पर अडिग रहती है। यह जानते हुए भी कि उसे फांसी तक हो सकती है, उसने अपना हठ नहीं छोड़ा और मरना स्वीकार कर लिया और अपने पति को सदा के लिए पश्चाताप की आग में तपने के लिए छोड़ गई।

'समाप्ति' कहानी की नायिका मृणमयी का टैगोर ने बड़ी ही सूक्ष्मता से मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उदाहरण स्वरूप देखिये :- ''पिंजरे में फंसी नयी चिड़िया की भांति पहले तो काफी देर तक हाथ-पांव मारती रही, फिर जब भागने का कोई रास्ता नहीं मिला तो बिस्तर की चद्दर को दांतों से फाड़ कर तार-तार कर ज़मीन पर पेट के बल लेट पिता को याद कर रोने लगी।''

उसका पति अपूर्व जब कोलकता जाने लगता है तो मृणमयी उसके साथ जाने की जगह अपने मायके चली जाती है। पर मायके जाने पर उसे महसूस होता है कि पूरे घर में, यहां तक कि गांव-भर में सब पराये से हो गए हों। उसे लगता है मानो भरी-दोपहर में ही सूर्य को ग्रहण लग गया हो। कल तक तो उसे यह भी नहीं पता था कि जीवन के जिस प्यार को छोड़ कोलकाता जाने से वह हिचकिचा रही थी, आज अपने पति के उसी प्यार को पाने के लिए उसके पास जाने को छटपटा रही है। ईश्वर का वार इतना सूक्ष्म था कि कब उसने मृणमयी के बचपन और जवानी के बीच आघात किया वह भोली ना-समझ जान ही नहीं पाई।

'नष्टनीड़' कहानी की नायिका का पति भूपति अपने कामकाज में व्यस्त रहने के कारण अपनी पत्नी चारू को समय ही नहीं दे पाता। चारू अपना अधिक समय अपने देवर अमर के साथ साहित्य चर्चा में लीन रहती है। भावों का सुंदर समावेश देखें जो टैगोर ने कहानी की नायिका से कहलवाये हैं-सुंदर चांद की सारी कलाएं अमावस के सघन अंधेरे की काली चादर में छुपी होती हैं। यूं चांद की चांदनी का एक-एक कण भी व्यर्थ नहीं जाता। देखा जाए तो अमावस में पूर्णिमा से अधिक चमत्कार है। इन पंक्तियों के माध्यम से चारू ने अपने मन के उद्गार बड़ी ही सूक्ष्मता से सुंदर भाषा में व्यक्त किये हैं।

धीरे-धीरे चारू के मन में अपने देवर के प्रति प्रेम का अंकुर फूटने लगता है। चारू की मनोदशा का चित्रण देखें :- ''अंधेरे कमरे के किवाड़ बंद कर अमल! अमल! पुकारती और मन-ही-मन कहती, देवर जी आप मेरे से रूठ कर गए मुझे इस बात का दुख है। आपको मैंने कभी दोष नहीं दिया पर आप को चाहिए था कि जाने से पहले अपने मन की बात कह जाते। मुझे यह कष्ट तो ना होता। अब मैं आप को कैसे भूल सकती हूं। आप का प्यार ही मेरा जीवन है। आपकी स्मरणीय यादों की मैं पूजा करूंगी।''

भूपति ने बड़ा प्रयत्न किया कि वह चारू को खुश रखे पर अब तो तीर कमान से निकल चुका था। परंपरावादी लोगों ने चाहे इस कहानी को नापसंद किया होगा। पर इसमें निषिद्ध प्रेम का चित्रण बड़े संयमित कोमल और अपवित्रता की व्यंजना से मुक्त है। 'रासरानी का लड़का' की नायिका एक संभ्रांत परिवार की बहू का संघर्षमयी जीवन और उसकी मात्र एक आशा, कमज़ोर, भावुक, अद्भुत, एक दृढ़ संकल्प वाली है। कहानी की नायिका के अनुसार- ''इस संसार में कीमत चुकाए बिना कुछ भी नहीं मिलता और कीमत चुकाते समय कुछ कष्ट

भी सहने पड़ते हैं।'' रासमनी ने घर-परिवार के साथ-साथ जमींदारी का काम सीख लिया था। यहां तक कि मुनीम से लेकर मुंशी तक उससे घबराते थे। कहानी की नायिका सूझ-बूझ वाली एवं चुनौतियों का मुकाबला करने वाली है।

''स्त्री का पत्र'' कहानी पत्र विधा में लिखी गई सफल कहानी है। इसमें नारी शोषण और नारी चेतना दोनों पक्ष प्रधान हैं। कहानी में उस समय की स्त्रियों की दयनीय स्थिति का चित्रण है। उदाहरण स्वरूप देखें :- 'घर का भीतरी भाग जहां स्त्रियां रहती हैं, ठीक ऐसे है जैसे पशमीने से काढ़ी गई चद्दर का पृष्ठ भाग। वहां कोई शर्म नहीं, कोई साज-सजावट नहीं।, बड़ी धीमी-सी रोशनी, हवा चोरें की भांति दबे पांव भीतर आ रही थी, आंगन कूड़े-कचरे से सना, दीवारें और फर्श कच्चे और गंदे। डाक्टर ने एक भूल की थी। उसने सोचा इस गंदगी से हमें दुख पहुंचता है। पर सत्य इसके विपरीत था। जिस वस्तु का आदर मान नहीं वह राख के समान होती है। राख आग के भीतर ही भीतर दबी रहती है, पर बाहर से उसका तप महसूस नहीं होने देती।'

इस कहानी की नायिका मृणाल परिवार की इस घृणित कैद से स्वतंत्र होने की ठान लेती है और अंत में स्वतंत्र होने पर उसे महसूस होता है-''हवा का एक झोंका साधारण से बीज को कहीं से उड़ा कर ले आता है और वही बीज घर की छाती चीर कर एक बहुत बड़ा पीपल का दरख्त बन जाता है। उसे महसूस हो रहा था कि आज वह स्वतंत्र हो गई है। अब वह अपनी आत्मा को अपना कह सकती है। तभी वह वापिस घर न जाने का दृढ़ संकल्प कर लेती है।''

इस कहानी में नारी चेतना का पक्ष प्रधान है। कहानी की नायिका अत्याचार के आगे झुकती नहीं अपितु विरोध करती है।

''वर और कन्या'' कहानी की नायिका दीपाली भाग्यवादी है। भाग्य में लिखे हुए से अधिक नहीं मिल सकता यही उसकी धारणा है। कभी उदास हो वह आकाश में टिमटिमाते सितारों से पूछती है-'' लाखों मील दूर बैठे आप सच ही मानव के भाग्य का सूत कातते रहते हो।'' इन पंक्तियों में उसकी बे-बसी की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

अंत में हम इस निर्णय पर पहुंचते है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर कहानी के क्षेत्र में अनुपम हैं। अपनी कहानियों में अकेले और अनोखे रूप में वह स्वयं ही दिखाई देते हैं। यथार्थ को चित्रित करने की जो सूक्ष्म दृष्टि और सजीव कल्पना, सार तत्त्व को ग्रहण करने की क्षमता, अतिश्योक्ति एवं भावुकता से दूर रहने का स्वभाव, झूठ एवं अन्याय को सहन न करने का जज़्बा उनकी प्रतिभा के विशेष गुण हैं। अपनी कहानियों में गांव की लड़कियों गिरिबाला, मृणमयी, नयन जोड़, चारू, रतना, दिपाली, रासमणि आदि सभी गरीब परिवार के सदस्य हैं। कहानियों में नारी की मनोदशा, बच्चों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, नारी चेतना, नारी शोषण, नैतिक मान-मूल्य, बाल विवाह, दहेज प्रथा आदि विषयों को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

❖❖❖

Regd. No. 28871/76

June - July 2012

Published by the Secretary on behalf of
J&K Academy of Art, Culture and Languages, Jammu
and Printed at Classic Printers, Bari Brahamana, Jammu